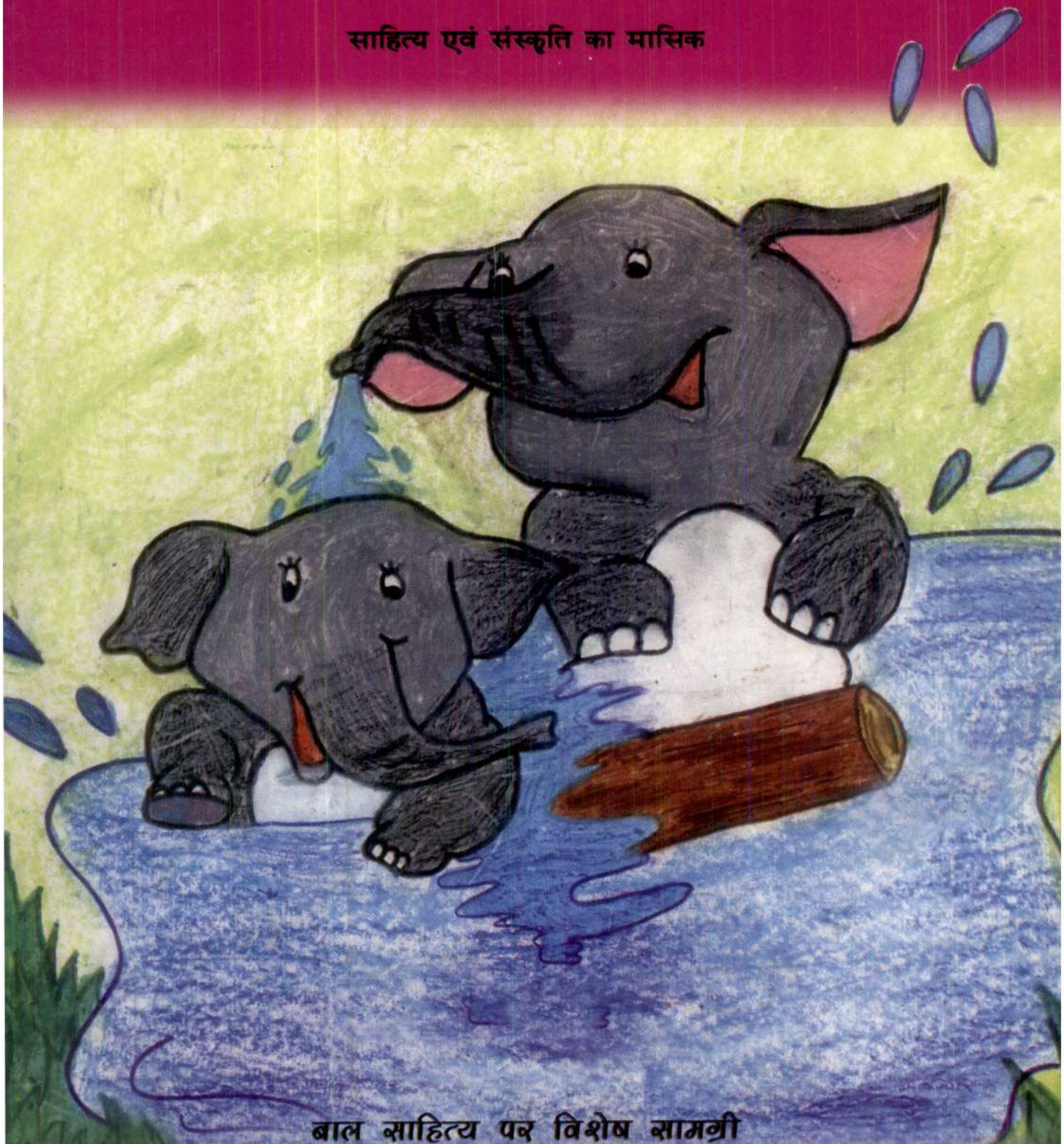
नवंबर, 2004

सात रुपये

आजकल

साहित्य एवं संस्कृति का मासिक



बाल साहित्य पर विशेष सामग्री

हीरक जयंती वर्ष



सूचना और प्रसारण एवं संस्कृति मंत्री श्री एस. जयपाल रेड्डी, डा. राममोहन पाठक को पुरस्कार देते हुए

हिन्दी के 17 लेखकों को भारतेंदु पुरस्कार

राजधानी दिल्ली में गत 29 सितंबर को आयोजित एक समारोह में हिन्दी के 17 लेखकों और पत्रकारों को वर्ष 2002 के लिए भारतेंदु हरिश्चंद्र पुरस्कार से सम्मानित किया गया। ये पुरस्कार केन्द्रीय सूचना और प्रसारण एवं संस्कृति मंत्री श्री एस. जयपाल रेड्डी और सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के सचिव श्री नवीन चावला ने प्रदान किए। इस अवसर पर श्री रेड्डी ने कहा कि भारतेंदु हरिश्चंद्र का हिन्दी पत्रकारिता में एक विशिष्ट स्थान था और उन्होंने हिन्दी को एक नई पहचान दी। मंत्री महोदय ने कहा कि उनकी स्मृति में दिया जाने वाला यह पुरस्कार पत्रकारों और लेखकों का न केवल उत्साहवर्धन करेगा बल्कि उनमें नई उर्जा भरने में भी कारगर सिद्ध होगा।

भारतेंदु हरिश्चंद्र पुरस्कार, भारत सरकार के सूचना और प्रसारण मंत्रालय द्वारा पत्रकारिता एवं जनसंचार से संबंधित विषयों पर हिन्दी में मौलिक लेखन के लिए हर साल प्रदान किए जाते हैं। पत्रकारिता एवं जनसंचार वर्ग का प्रथम पुरस्कार प्रो. राममोहन पाठक को उनकी पुस्तक *जनमाध्यमों की भाषा* (पांडुलिपि) के लिए प्रदान किया गया।

इसी वर्ग में डा. ओमप्रकाश सिंह को उनकी पुस्तक *संचार के मूल सिद्धांत* के लिए द्वितीय पुरस्कार और सुश्री रुचि कश्यप को पांडुलिपि *मायामृग-बच्चों पर टी.वी. विज्ञापनों का प्रभाव* के लिए तृतीय पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

डा. अमर बहादुर सिंह एवं डा. अमरनाथ सिंह (हिन्दी पत्रकारिता और भारतेंदु हरिश्चंद्र), नरेन्द्र सिंह यादव (विज्ञापन तकनीक एवं सिद्धांत), सुरेश कुमार (इंटरनेट पत्रकारिता), शिवानंद कामड़े (छत्तीसगढ़ में पत्रकारिता का उद्भव एवं विकास) और डा. देवेन चंद्र दास (असम के समाचार पत्र और पत्रकारिता) को मान पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

बाल साहित्य वर्ग में जाने-माने लेखक श्री चंद्रशेखर व्यास को बच्चों के लिए लिखी गई उनकी पुस्तक *बुद्ध की जीवनी और उपदेश* (पांडुलिपि) को प्रथम पुरस्कार तथा सुप्रसिद्ध लेखक श्री देवेन्द्र कुमार को उनके बाल उपन्यास *खिलौने* (पांडुलिपि) के लिए द्वितीय पुरस्कार प्रदान किया गया।

राष्ट्रीय एकता वर्ग में डा. उमा माथुर को उनकी पुस्तक *हिन्दी संत काव्य में राष्ट्रीय एकता* और पांडुलिपि *भारतीय राष्ट्रीय एकता* के लिए श्री सोती वीरेन्द्र चंद्र को संयुक्त रूप से प्रथम पुरस्कार से सम्मानित किया गया। इस वर्ग का द्वितीय पुरस्कार डा. अमर ज्योति सिंह और डा. जमुना प्रसाद बड़ेरिया ने संयुक्त रूप से प्राप्त किया।

महिला समस्या वर्ग में डा. कुमुद शर्मा को उनकी पुस्तक *स्त्रीघोष* के लिए प्रथम पुरस्कार और सुश्री स्वप्निल सारस्वत को पांडुलिपि *समाज, राजनीति और महिलाएं* के लिए द्वितीय पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

प्रकाशन विभाग के निदेशक प्रो. उमाकांत मिश्र ने पुरस्कार विजेताओं और आमंत्रित अतिथियों का आभार व्यक्त किया । इस मौके पर गीत एवं नाटक प्रभाग की ओर से वृंद गान का भी आयोजन किया गया।

ISSN-0971-8478
स्थापित 1945

आजकल

लेख

5. हिंदी बाल साहित्य में अनुपस्थित पात्र
हां! जब हम उड़ने वाले घोड़े, मुंह से आग उगलने वाले ड्रैगन, जादुई छड़ी से असंभव को पल में संभव बनाने वाली परियों की कहानियां बच्चों को सुनाते हैं, तब हमें जीवन के सच की झांकी देने वाली एक खिड़की भी उनकी अबोध आंखों के सामने खोलनी चाहिए। प्रस्तुत है बाल साहित्य में अनुपस्थित पात्रों के बारे में ***देवेंद्र कुमार*** का आलेख

7. बच्चों के दिल की बात कहते हैं बाल उपन्यास
हिंदी में ज्यादातर बाल उपन्यास आजादी के बाद लिखे गए। लेकिन प्रेमचंद की रचना *एक कुत्ते की कहानी* को अभी तक प्राप्त जानकारी के अनुसार हिंदी का पहला बाल उपन्यास कहा जा सकता है। हिंदी के बाल उपन्यासों का लेखा-जोखा प्रस्तुत कर रहे हैं ***प्रकाश मनु***

14. सत् संतोष और विचार का ग्रंथ
श्री गुरु ग्रंथ साहब संतवाणी का संग्रह है- चाहे वे गुरु साहबान हों, मुलतान से लेकर बंगाल तक और सिंध से लेकर महाराष्ट्र तक फैले हुए संत और सूफी हों, ब्राह्मण हों या दलित हों, सभी की रचनाओं को गुरु ग्रंथ साहब में स्थान प्राप्त हुआ, सभी समादृत हुए, सभी पूज्य हुए। गुरु ग्रंथ साहब की विवेचना प्रस्तुत कर रहे हैं ***महीप सिंह***

20. प्रेमचंद : घर में और बाहर (दस्तावेज)
प्रेमचंद का जीवन अवलोकन करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वे न केवल उच्चकोटि के लेखक थे, वरन् उनका व्यक्तिगत जीवन भी- घर और बाहर एक ऊंचे धरातल पर स्थापित था। प्रस्तुत है प्रेमचंद के जीवन पर ***श्री विश्व*** का आलेख

34. आकाशवाणी और दूरदर्शन के बाल कार्यक्रम
आकाशवाणी और दूरदर्शन के कार्यक्रमों ने बच्चों को बेहद आकृष्ट किया है। छोटे बक्से में तरह-तरह के चित्रों का उभरना, अठखेलियां करती हुई तस्वीरें, प्यारे-प्यारे गीत, बच्चों के लिए अनुपम आकर्षण का केंद्र बन गए हैं। बाल कार्यक्रमों का विश्लेषण कर रहे हैं ***शेरजंग गर्ग***

36. आज पेड़ बहुत खुश हैं
एक बच्चे के दैनंदिन अनुभवों से रची गई यह डायरी रूपाकार में तो बच्चे जैसी ही है, लेकिन वज़न इसका बहुत ज्यादा है और बाल-मनोविज्ञान के अनुरूप सामने आई इसकी तमाम बातें हम बड़ों की दुनिया को कुछ और बड़ा करने की प्रेरणा देती हैं। शिवांक की डायरी की विवेचना कर रहे हैं ***रामकुमार कृषक***

41. बाल फिल्में और बाजार...
भारत में बाल-फिल्मों का इतिहास एक मायने में 'चिल्ड्रन्स फिल्म सोसाइटी ऑफ इंडिया' का ही इतिहास है क्योंकि इस संस्था ने अपने सीमित संसाधनों के साथ बाल सिनेमा आंदोलन को नई जीवन-ऊर्जा प्रदान की है। बाल फिल्मों का मूल्यांकन ***रमेश तैलंग*** द्वारा

43. श्रद्धांजलि : मुल्कराज आनंद
अंग्रेजी के प्रख्यात लेखक मुल्कराज आनंद के व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय दे रही हैं ***ललिता खुराना***

साक्षात्कार

23. कमला सांकृत्यायन से बातचीत
प्रकाश प्रसाद उपाध्याय एवं शुभकर्ण मिश्र

कहानी

16. अनचाहा
रामदेव शुक्ल

32. लीला (राजस्थानी)
मदन सैनी

39. कालू
सुशांत सुप्रिय

46. नए नोट (लघुकथा)
जसविंदर शर्मा

कविताएं

28. चार गीत
शैलेंद्र चौहान

29. कविता
आरती वर्मा

30. दो कविताएं
उत्तिमा केशरी

कविता
सुरेश विमल

31. दो कविताएं
सत्यनारायण

तीन गज़लें
उषाराजे सक्सेना

पुस्तक चर्चा

45. वह जिए तो यों जिए
से.रा. यात्री

स्तंभ

2. पत्र
47. समीक्षा

वर्ष : 60; अंक : 7; पूर्णांक : 721; नवंबर 2004, कार्तिक-अग्रहायण -1926

प्रभारी संपादक
प्रवीण उपाध्याय

सहायक संपादक
सुधीर तिवारी
ललिता खुराना

आवरण सज्जा : *अलका नैयर*
चित्र : (मुख पृष्ठ) *अर्चित जैन*
अंतिम आवरण : *आरोह शुक्ला*

संपादकीय पत्र व्यवहार :
संपादक **आजकल** प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001, दूरभाष : 23387876, फैक्स : 23387876
E-Mail dpd@sb.nic.in अथवा dpd@hub.nic.in
Website www.publicationsdivision.nic.in

संयुक्त निदेशक (उत्पादन) : **डी.एन. गांधी**

चंदे की दरें :

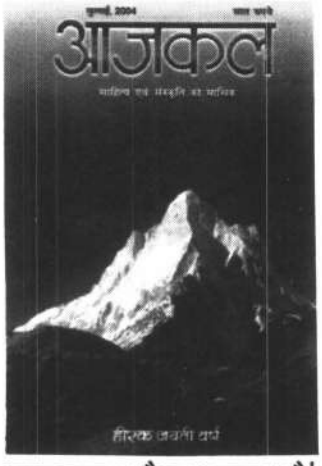
एक प्रति : 7 रुपये; वार्षिक : 70 रुपये; दो वर्ष: 135 रुपये; तीन वर्ष:190 रुपये विदेशों में (हवाई डाक से) एक वर्ष पड़ोसी देश : 500 रुपये; शेष विश्व : 700 रुपये

चंदे संबंधी पूछताछ : **ए.के. दुग्गल** सहायक व्यापार व्यवस्थापक, पूर्वी ब्लाक-4, लेवल-7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-110066, दूरभाष : 26105590

हमारे विक्रय केंद्र
(यहां वार्षिक चंदा जमा कर सकते हैं।)

नई दिल्ली : प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस; दूरभाष : 23387983; सूचना भवन, सीजीओ काम्प्लेक्स, दूरभाष : 24367260; **दिल्ली** : हाल नं 196 पुराना सचिवालय, दूरभाष : 23890205 **लखनऊ** : दूसरी मंजिल, हाल नं. 1, केंद्रीय भवन, अलीगंज; **कोलकाता** : 8, एस्प्लेनेड ईस्ट; दूरभाष : 22488030; **पटना** : बिहार राज्य सहकारिता बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, दूरभाष : 2300096; **मुंबई** : कामर्स हाउस, करीम भाई रोड, बालार्ड पायर; दूरभाष: 22610081; **तिरुअनंतपुरम** : गवर्नमेंट प्रेस के निकट, दूरभाष : 2330650; **हैदराबाद** : ब्लाक-4, प्रथम तल, गृहकल्प कांप्लेक्स, एम.ज. मार्ग, नामपल्ली; दूरभाष : 2236393; **चेन्नई** : राजाजी भवन, बेसेंट नगर, दूरभाष : 24917673; **बंगलौर** : एफ विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला, दूरभाष : 25537244

टाइपसेट : ज्योति लेजर टाइपसेटिंग



उत्सुकता पैदा करता है!

• *आजकल* जुलाई 2004 अंक हाथ में आया। विष्णु प्रभाकर की कहानी 'अब्दुल्ला' का अब्दुल्ला समय और परिस्थितियों के दबाव में पड़कर हमारे समक्ष बहुत कुछ नारियल जैसा ही व्यक्तित्व लेकर आ खड़ा होता है। जो बाहर से कठोर और अंदर से कोमल, मधुर एवं सरस होता है। हंगेरियन पृष्ठभूमि पर उर्मिल की कहानी 'न पिघलने वाली बर्फ' काल और भूखंड की सीमा से परे हर उस मां की त्रासदी है जो ममत्व की अतिशयता की वजह से अपने बच्चे को ठीक ढंग से नहीं समझ पाती और उसकी बातों के भुलावे में आ जाती है।

दस्तावेज के रूप में कृष्णा बैजल का प्रसंग 'अकबर और उनके हिंदी कवि' कई नई जानकारियों का खजाना खोलकर रखता है। साथ ही पुरातत्व पर देवेंद्रनाथ ठाकुर का आलेख 'इंडोनेशिया के संस्कृत शिलालेख' भी। उर्मिला जैन का संस्मरण' उष्णकटिबंधीय स्वर्ग में एक दिन' मोम्यासा की धरती से परिचित करा गया। विष्णु प्रभाकर से अवनिजेश अवस्थी की बातचीत 'शब्द जब सम से मिले तो संगीत और सह से मिले तो साहित्य होता है!'' संगीत और साहित्य के प्रति आशा से भर देता है। प्रकाश मनु द्वारा विष्णु प्रभाकर की कहानियों का मूल्यांकन 'कहानियों में एक समूची दुनिया रचने का उत्साह' विष्णु प्रभाकर के कथा-संसार को समग्रता से जानने-समझने की उत्सुकता पैदा करता है।

उर्दू से देवनागरी लिपि में प्रस्तुत मदन गोपाल का लेख 'प्रेमचंद का दुर्लभ साहित्य' शोधकर्त्ताओं के लिए खुशखबरी है। 'प्रेमचंद-पूर्व के हिंदी कथा साहित्य में यथार्थवाद' लेख के माध्यम से रामनिरंजन परिमलेंदु ने तर्कपूर्ण ढंग से हिंदी साहित्य जगत को एक नई एवं रोचक जानकारी देकर महत्वपूर्ण कार्य किया है। पुस्तक चर्चा में 'तोल्सतोय की अनमोल कहानियां' पर क्षितिज शर्मा की समीक्षा 'लोक और परिष्कृत साहित्य का संबंध' दोनों किस्म के साहित्य के फर्क को रेखांकित करता हुई उनके पारस्परिक संबंधों को भी दर्शाता है। समकालीन हिंदी साहित्य : चेतना एवं सरोकार' विषय पर आजकल की विचार गोष्ठी मन भावन रही। 'चांद पर नाव', मुजफ्फर की ग़ज़लें', एवं 'मुक्ति' की समीक्षाएं भी रुचिकर लगीं।

–राधेलाल 'नवचक्र', भागलपुर, बिहार

ज्ञानोपयोगी

• जुलाई अंक काफी अच्छा लगा। कहा जाए तो यह अंक हीरक जयंती के अब तक प्रकाशित अंकों में सर्वश्रेष्ठ अंक था। पत्रिका का आरंभ 'अकबर और उनके हिंदी कवि' साहित्य के साथ ऐतिहासिकता की भी अमिट छाप छोड़ता है। वहीं पुरातत्व के अंतर्गत 'इंडोनेशिया के संस्कृत शिलालेख' का उल्लेख कर देवेंद्र नाथ ठाकुर ने हमें भारत की स्वर्णिम विरासत से परिचय करवाया है, जिसके लिए वे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

अगर पत्रिका में प्रकाशित विष्णु प्रभाकर जी की कहानी 'अब्दुल्ला', उनका साक्षात्कार और प्रकाश मनु द्वारा प्रभाकर जी का मूल्यांकन तथा कृतित्व के तहत 'प्रेमचंद का दुर्लभ साहित्य' और रामनिरंजन परिमलेंदु द्वारा 'प्रेमचंद पूर्व से 'हिंदी कथा साहित्य में यथार्थवाद' विषय पर आलेख की चर्चा की जाए तो यह बेहद सराहनीय एवं ज्ञानोपयोगी है। पत्रिका में प्रकाशित अन्य सामग्री भी बेहद पसंद आई। खासकर उर्मिल जी की कहानी 'न पिघलने वाली बर्फ'।

–अश्विनी कुमार, भागल पुर (बिहार)

प्रासंगिक सामग्री

• अंक सार्थक व प्रासंगिक सामग्री से भरपूर रहा। वरिष्ठ लेखक विष्णु प्रभाकर पर समुचित सामग्री देकर आपने पुनीत कार्य किया है। यह अपनी बुजुर्ग पीढ़ी के प्रति आदर की स्वस्थ परांपरा का निर्वाह है।

प्रेमचंद पर सामग्री भी प्रासंगिक है, क्योंकि इसी माह उनकी जयंती पड़ती है।

व्यंग्य आज साहित्य का मूल स्वर है, मगर लगता है *आजकल* को व्यंग्य से परहेज है। हीरक जयंती वर्ष में अगर *आजकल* व्यंग्य को भी अपना ले और *व्यंग्य आजकल* पुस्तक भी निकाले तो यह बहुत बड़ी साहित्यिक उपलब्धि होगी।

–रामस्वरूप दीक्षित, टीकमगढ़ (म.प्र.)

प्रेरणा-सूत्र

• 1945 में प्रकाशित एक महत्वपूर्ण दस्तावेजी रचना का पाठ करते हुए अभिभूत हो जाना पड़ता है। साहित्य के प्रति सम्राट अकबर का लगाव और प्रसंग, आज भी प्रेरणा-सूत्र बन सकते हैं। अंक की एक और महत्त्वपूर्ण कृति है 'प्रेमचंद का दुर्लभ साहित्य।' तो दूसरी ओर प्रेमचंद पूर्व के कथा साहित्य में यथार्थवाद की सामग्री। पत्रिका के हीरक जयंती वर्ष के दौर में विष्णु प्रभाकर के व्यक्तित्व और विचार को प्रस्तुत करना, निश्चय ही एक समर्पित बौद्धिक संपदा का सम्मान है। कहानी 'अब्दुल्ला' मानवीय संवेदनाओं को कुरेद डालती है। उर्मिल की कहानी भी अच्छी लगी। गीत 'इच्छाएं उदभ्रांत' समय की जमीन पर उगते भावनाओं की वह पौध है, जहां 'महानगर ही देता/ यह आदिम एकांत' की आहट सुनी जाती है। ठीक यही परिवेश कविता 'अनकहा' व्यक्त करती है।

–अरुण अभिषेक, पूर्णिया, बिहार

प्रेमचंद पूर्व यथार्थवाद

• जुलाई अंक में रामनिरंजन परिमलेंदु का आलेख 'प्रेमचंद-पूर्व के साहित्य में यथार्थवाद' पढ़ा,

जिसमें लेखक का सारा परिश्रम एवं स्वाध्याय इस बात को लेकर है कि यथार्थवाद प्रेमचंद के पूर्व भी साहित्य में आया है। यह हमारे विद्वान लेखक परिमलेंदु जी की दृष्टि हो सकती है, किंतु क्या इसके पूर्व का कथा साहित्य प्रेमचंद की तरह लोकप्रिय एवं जनोन्मुखी हो पाया!

वस्तुत: प्रेमचंद जयंती (125वीं) पर प्रेमचंद के स्मरण के लिए इस तरह के नकारात्मक आलेख में लेखक का व्यापक अध्ययन एवं कार्य तो प्रशंसनीय हो सकता है, किंतु उसका आशय एक गलत भाव को जन्म देता है। इस अंक में वंदना केंगरानी की कविताएं सतही एवं जल्दबाजी में लिखी गई लगती हैं। राजेंद्र गौतम की कविताएं भी कोई बेचैनी या तड़प पैदा नहीं करतीं।

–राजेश सक्सेना, ज्योतिनगर
उज्जैन, (मध्य प्रदेश)

सुंदर व संतुलित

• पत्रिका के जुलाई अंक से मेरा नया-नया परिचय हुआ। पत्रिका साहित्य एवं संस्कृति का एक सुंदर, सुगठित व संतुलित रूप प्रस्तुत करती है। 'दस्तावेज' के अंतर्गत आलेख 'अकबर और उनके कवि' ने खास तौर पर आकर्षित किया।

मध्यकाल के स्वर्ण युग की एक जीवंत तस्वीर उभर कर स्वत: ही सामने आती है। विभिन्न घटनाक्रमों को जिस रोचक अंदाज व सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया, उससे दिल पर एक अमिट छाप पड़ती है। इसके अतिरिक्त लेख 'इंडोनेशिया के संस्कृत शिलालेख' हमें हमारी भारतीयता के संदर्भ में गौरवान्वित करता है।

–घनश्याम कुमार 'देवांश'
नई दिल्ली

सब को मिले मौका

• *आजकल* में नित नए लेखकों, कवियों, कथाकारों जो मौका इस पत्रिका में देखने को मिल रहा है वह और कहीं नहीं मिलता। 'अकबर और उनके हिंदी कवि' आलेख में कृष्णा बैजल ने वह तथ्य उद्घाटित किया जो साहित्य के प्रभाव को हंसी-मजाक के रूप में हृदय में समा देता है।

साहित्यकार विष्णु प्रभाकर का साक्षात्कार प्रेरणादायी है और प्रकाश मनु का मूल्यांकन सटीक बैठता है।

राजेंद्र गौतम के गीत, वंदना केंगरानी और गोविंद प्रसाद की कविताएं तथा आचार्य सारथी की ग़ज़लें प्रभावी लगीं। कम शब्दों में अधिक बात कहने की क्षमता कविता, गीत और ग़ज़लों में ही है।

प्रेमचंद पर विस्तृत विवरण साहित्य सम्राट के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि है।

–शशिकांत निशांत 'साहिल'
सोनपुर, सारण

ज्ञानवर्द्धक सामग्री

• अंक में प्रस्तुत सामग्री सभी दृष्टियों से लाभप्रद एवं ज्ञानवर्धक रही। 'अकबर और उनके हिंदी के कवि' कृष्णा बैजल जी का अतीत की स्मृति को सहज प्रस्तुत कर देने वाला है, परंतु लेख में प्रस्तुत की गई काव्य पंक्तियों को यदि प्रामाणिक संदर्भ के साथ प्रस्तुत किया गया होता तो पाठक के लिए सहज बोध्य होता।

इंडोनेशिया के संस्कृत शिलालेखों के विषय में देवेंद्रनाथ ठाकुर का शोधपरक लेख श्रम साध्यता एवं उनकी खोजी प्रवृत्ति को सहज ही प्रतिबिंबित करता है। ऐसे लेखों के अध्ययन से हमें अपनी मातृभाषा के सुदूर-पूर्व में प्रयुक्त होने के प्रबल प्रमाण मिल जाते हैं। ऐसे लेख के लिए लेखक को कोटिश: धन्यवाद।

–चंद्रमौलि त्रिपाठी, शोध
छात्र, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान

चलताऊ प्रश्न

• विष्णु प्रभाकर का साक्षात्कार देखकर मन प्रफुल्लित हुआ। साक्षात्कार में पूछे गए प्रश्न चलताऊ किस्म के थे साथ में यह भी कहा जा सकता है कि यह साक्षात्कार इतना छोटा था कि शुरू होने से पहले ही खत्म हो गया। इन बातों ने दुखी किया।

काशी के संबंध में लिखे गए प्रेमचंद के दुर्लभ लेख का उर्दू से हिंदी में लिप्यांतर करने के लिए मदन गोपाल साधुवाद के पात्र हैं। आचार्य सारथी 'अपनी ग़ज़लों के साथ पसंद आए। वंदना केंगरानी की यथार्थवादी कविताएं पढ़कर अच्छा लगा। अंत में पत्र स्तंभ में छपे दिलीप जी के विचार से सहमत हूं।

–अशीष कुमार 'अंशु', नेहरू
विहार, दिल्ली

दुर्लभ जानकारी मिली

• *आजकल* के जुलाई अंक 'उपन्यास सम्राट' मुंशी प्रेमचंद के विषय में दुर्लभ जानकारी प्रदान करने के लिए मदन गोपाल जी को कोटिश धन्यवाद।

मुगलकालीन सम्राट अकबर और उनके हिंदी कवियों के विषय में भी अच्छी जानकारी प्राप्त हुई। कहानी 'अब्दुल्ला' व 'न पिघलने वाली बर्फ' अच्छी रहीं। कथाकार विष्णु प्रभाकर का साक्षात्कार अत्यंत उपयोगी रहा। 'सह' और 'सम' की भावना यथार्थ में कभी समाज से नहीं मिट सकती। 'अवनिजेश अवस्थी' साधुवाद स्वीकार करें।

–दिलीप कुमार जायसवाल,
चिरैयाकोट, मऊ

मर्मस्पर्शी कहानी

• अंक में विष्णु प्रभाकर से साक्षात्कार और उन्हीं पर आधारित मूल्यांकन रोचक एवं ज्ञानवर्द्धक लगा। विष्णु प्रभाकर जी की कहानी– 'अबदुल्ला' बेहद मर्मस्पर्शी लगी।

'कृतित्व' वाले लेख, जो मुंशी प्रेमचंद पर लिखे गए हैं उनमें से पहला– 'प्रेमचंद का दुर्लभ साहित्य' अत्यधिक उर्दू-प्रधान भाषा के प्रयोग के कारण दुरुह लगता है; परंतु दूसरा कृतित्व-प्रेमचंद-पूर्व के कथा साहित्य में यथार्थवाद' बेहद मनमोहक एवं ज्ञानवर्द्धक लगा। आचार्य सारथी की ग़ज़लें बहुत ही अच्छी लगीं। विशेषकर चौथी ग़ज़ल तो अंतर्मन को छू जाती है।

–सत्येंद्र पूजन प्रताप त्रिपाठी,
इलाहाबाद (उ.प्र.)

प्रेमचंद का दुर्लभ साहित्य

• 'साहित्य समाज का दर्पण होता है'– इस उक्ति को चरितार्थ करता 'प्रेमचंद का दुर्लभ साहित्य' शीर्षक लेख बनारस के बारे में वह सब बता गया जो शायद हमें पता न था। मुंशी प्रेमचंद की कलम से उपजे इस लेख की सबसे बड़ी विशेषता इसकी भाषा, उर्दू है।

उर्मिला जैन का लेख 'उष्ण कटिबंधीय स्वर्ग में एक दिन' मोम्बासा अफ्रीका की सैर करा गया। 'अकबर और उनके हिंदी कवियों' के बारे में कृष्णा बैजल की प्रस्तुति काफी रोचक लगी। इससे अकबर की उदारता का पता चलता है। 'इंडोनेशिया में भारतीय संस्कृति' के बारे में जानकारी ज्ञानवर्द्धक लगी।

'अब्दुल्ला' कहानी मार्मिक होते हुए भी मानवीय संवेदनाओं को उद्वेलित करती है। यह कहानी प्रेमचंद के 'मंत्र' की याद दिलाती है। अपने प्रति अपकार होते हुए भी बूढ़ा बागबान उपकार की भावना रखता है और अंततः पश्चाताप के आंसू लिए बच्चे का हालचाल पूछने उसके घर जाता है।

विष्णु प्रभाकर पर वृहद सामग्री तथा उनसे बातचीत उनके साहित्यिक जीवन के विविध पहलुओं को उजागर करती है। 'जिंदगानी' को परिभाषित करती आचार्य 'सारथी' की ग़ज़लें व अन्य गीत, कविताएं जीवन के लिए संदेश देती हैं।

'हिंदी कथा साहित्य में यथार्थवाद' लेख सराहनीय है लेकिन लेख में 'यथार्थवाद' को कहीं भी स्पष्टतः परिभाषित नहीं किया गया है। लेख को समझने के लिए यथार्थवाद क्या है? यह जानना, बहुत जरूरी है।

–विनायक 'राजहंस', छोटा बघाड़ा, इलाहाबाद

पठनीय अंक

• *आजकल* का जुलाई अंक पढ़ने का मौका मिला। यूं पूरा अंक ही पठनीय है किंतु इस अंक में उर्मिल की कहानी 'न पिघलने वाली बर्फ' विशेष रूप से ध्यान खींचती है। मां-बेटे के रिश्ते की महीन परतों में छिपे दर्द को उकेरती है। विषय सामान्य होते हुए भी कहानी पाठक के मर्म को अनायास छू जाती है।

वरिष्ठ कथा-साहित्यिक विष्णु प्रभाकर से हुआ 'साक्षात्कार', उनके कथा-संसार पर प्रकाश मनु की आलोचना-'मूल्यांकन' सरीखे लेखों का उपयोग करके आपने बहुत ही सराहनीय काम किया है।

–हीरेंद्र कुमार शर्मा, नलबाड़ी (असम)

श्रेष्ठ अंक

• जुलाई अंक अपनी अछूती सामग्री के लिए संग्रहणीय हो गया है। संस्कृत शिलालेख इंडोनेशिया संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। देवेन्द्र नाथ ठाकुर के इस लेख से यह भी ध्वनित होता है कि भाषा एक जाति रूपी प्रत्यय है जो मनुष्य को रूपांतरित कर अपनी जाति में एकाकार कर लेती है। रामनिरंजन परिमलेंदु का शोध लेख पाठकों की जिज्ञासाओं को उत्तेजित करता है।

हिंदी साहित्य के इतिहास को चुनौती देने वाला यह लेख एक दूसरे हिंदी साहित्य के इतिहास की आवश्यकता को महसूस कराता है। मूल्यांकन में विष्णु प्रभाकर के लेखक के वास्तविक कद को उनकी कहानियां बयां करती हैं। प्रकाश मनु के शब्दों में सचमुच वे एक ऐसे महारथी हैं जिनकी कहानियां 20वीं शती के मनुष्य और उसके समाज को भीतर से देखने की आंख देती हैं। भाई राजेन्द्र गौतम के गीत परिवेशीय वस्तुस्थिति को सामने रखते हैं। श्रेष्ठ अंक के लिए बधाई।

–वीरेंद्र आस्तिक, कानपुर (उ.प्र.)

ऐतिहासिक जमीन की प्रस्तुति

• अंक में कहानी 'न पिघलने वाली बर्फ' मनुष्य के अंदर धंसे उस विवशता की जड़ता है, जिसकी गांठ खुलने की अपेक्षा रहती है। खासकर जब-जब कोई औरत उस जड़ता का शिकार हो।

विष्णु प्रभाकर से साक्षात्कार मानो साहित्य के पिता से रू-ब-रू हों। जिनके लिखने की जिजीविषा पाठकों को ही नहीं, किसी भी प्रबुद्ध रचनाकार को मुग्ध करेगी। उन भावनाओं और आशय को प्रकाश मनु विस्तार करते हैं। खासकर उनकी रचनाओं का बौद्धिक विस्तार और दृष्टि देकर।

–उत्तिमा केशरी, पूर्णिया, बिहार

विस्तृत व्याख्या

• अंक पढ़ने को मिला। वरिष्ठ साहित्यकार विष्णु प्रभाकर से अवनिजेश अवस्थी की बातचीत, उनके कथा साहित्य पर प्रकाश मनु की विस्तृत व्याख्या, साथ में 'अब्दुल्ला' नामक उनकी कहानी से श्री विष्णु प्रभाकर को काफी कुछ समझने-जानने को मिला। पद्मविभूषण सम्मान प्राप्त करने के लिए उन्हें बधाई! वे दीर्घायु हों, यही ईश्वर से कामना है।

देवेंद्र नाथ ठाकुर का आलेख इतिहास एवं पुरातत्व की दृष्टि से काफी महत्व का है। राजेंद्र गौतम के चार गीत तथा आचार्य सारथी की वंदना केंगरानी की कविताएं स्त्री विमर्श के परिप्रेक्ष्य में ध्यान देने लायक हैं। उर्मिला जी का संस्मरण कुछ अधूरा-सा लगता है। दस्तावेज के अंतर्गत कृष्णा बैजक की प्रस्तुति अकबर एवं उनके हिंदी कविताएं दिलचस्पी पैदा करने वाली रचना है।

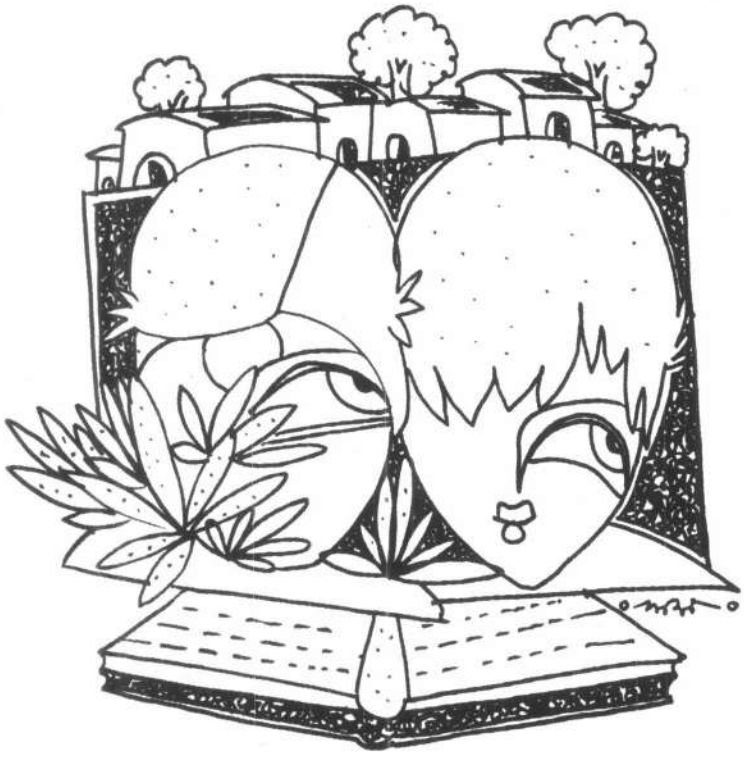
–सविता यादव, रायबरेली (उ.प्र)

हीरक जयंती विशेषांक

• *आजकल* का जुलाई 2004 'हीरक जयंती वर्षांक' पढ़ा। पढ़कर प्रसन्नता हुई कि पत्रिका के 59 वर्ष व्यतीत हो गए। निरंतर पठनीय व संग्रहणीय सामग्री से परिपूर्ण अंकों व विशेषतः इस 'हीरक जयंती वर्षांक' के लिए एक वयोवृद्ध चित्रकार, साहित्यकार व इतिहासविद् के रूप में हार्दिक शुभकामनाएं स्वीकार करें।

93 वर्षीय 'पद्म विभूषण' श्री विष्णु प्रभाकर, उनकी आत्मकथा से यह प्रेरणा मिली कि उम्र के लंबे सफर में भी लेखक को रचनाएं करते रहना चाहिए।

–महेन्द्र वर्मा, झांसी (उ.प्र.)



जब हम उड़ने वाले घोड़े, मुंह से आग उगलने वाले ड्रैगन, पहाड़ जैसे विशाल राक्षस, जादुई छड़ी से असंभव को पल में संभव बनाने वाली परियों, शरारती बौनों की कहानियां बच्चों को सुनाते हैं, उन्हें गुदगुदाते हैं; तब हमें जीवन के सच की झांकी देने वाली एक खिड़की भी उनकी अबोध आंखों के सामने खोलनी चाहिए / वह उनकी मासूम संवेदना के सही विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है / बाल साहित्य में अनुपस्थित पात्रों की चर्चा कर रहे हैं — **देवेंद्र कुमार**

हिंदी बाल साहित्य में अनुपस्थित पात्र

बच्चे सदा ही हम बड़ों की चिंता, आशा और सपनों के केंद्र में रहे हैं, रहते हैं और भविष्य में भी रहेंगे। इसी तरह बाल साहित्य को लेकर भी हम प्राय: चर्चा करते रहते हैं। इसका सबसे बड़ा कारण स्वयं को बचपन की रूमानियत से जोड़े रखकर मन में कुछ कोमल भाव बचाए रखना ही है। जीवन की रफ्तार में बचपन जितना पीछे छूटता जाता है उसके प्रति हमारी ललक और कसक उतनी ही तीव्र होती जाती है। 'काश, मेरा बचपन मुझसे कभी न छूटता-हरेक का मन पीड़ित भाव से यही दोहराता है।

जेम्स एम बेरी ने अपनी अमर कृत्ति 'पीटर पैन' में मानव मन की इसी कसक को दर्शाया है। कथा नायक पीटर पैन परियों से सदा बच्चा बना रहने का वरदान मांगता है और परियां उसे यह अभिशप्त वरदान दे भी देती हैं। मैंने अभिशप्त इसलिए कहा कि पीटर पैन जन्म से लेकर आज तक बच्चा ही बना हुआ है लेकिन उसके आस-पास दुनिया निरंतर बदलती रही है। उसके सभी अपने लोग दुनिया से जा चुके हैं और नए अपरिचितों ने उसे घेर लिया है। जहां हम कहते हैं- 'काश, हमारा बचपन कभी न छूटता' वहीं पीटर पैन रोता है- 'काश, मैंने परियों से सदा बच्चा बना रहने का वरदान न मांगा होता।'

बचपन जहां है, वहीं रहे- यही सबसे अच्छा है। हां, बड़े लोग बचपन और बच्चों को सदा याद रखें। बाल मन के उस काल्पनिक सच के लिए जो एक न एक दिन समय के कठोर यथार्थ से टकरा कर चूर-चूर होना ही है।

कल्पना के पंखों पर रोमांचक उड़ान से लेकर कठोर यथार्थ तक का कड़वा सफर-हमारा जीवन इन दो बिंदुओं के बीच एक सूक्ष्म सूत्र की तरह तना हुआ है। बाल मन का कल्पित सच जीवन के यथार्थ में कभी नहीं बदलता। इसे हम सभी देर-सवेर समझने पर विवश होते हैं। तो क्या हमें बच्चों को आरंभ से ही कल्पित सच को नकली कथा संसार में ले जाने के साथ-साथ जीवन के कठोर सच का भी थोड़ा-बहुत परिचय कराते रहना चाहिए? मेरा मानना है- हां। जब हम उड़ने वाले घोड़े, मुंह से आग उगलने वाले ड्रैगन, पहाड़ जैसे विशाल राक्षस, जादुई छड़ी से असंभव को पल में संभव बनाने वाली परियों, शरारती बौनों की कहानियां बच्चों को सुनाते हैं, उन्हें गुदगुदाते हैं; तब हमें जीवन के सच की झांकी देने वाली एक खिड़की भी उनकी अबोध आंखों के सामने खोलनी चाहिए। वह उनकी मासूम संवेदना के सही विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

मैं अपने बचपन की बात कहूं- हर बार फरमाइश करने पर ऐसी ही काल्पनिक कथाएं सुनने को मिलती हैं। आज लगता है, जैसे हर-मां-बाप अपने बच्चे के कोमल मन को चोट न पहुंचाने की सावधानी के कारण ही उसे कल्पित सच से जोड़ते हैं। वे मानते हैं कि समय आने पर बच्चा आप से आप हर यथार्थ को समझ जाएगा। क्या ऐसा नहीं हो सकता था कि काल्पनिक कथा संसार की रोमांचक सैर कराने के साथ-साथ मुझे यथार्थ परिवेश से जुड़ी कुछ अलग झांकियां भी दिखाई जातीं? बिल्कुल हो सकता था, पर हुआ इसलिए नहीं कि बड़ों ने इसे आवश्यक नहीं माना। और सिर्फ

इतना ही क्यों, मेरे बचपन में अगर ऐसा नहीं हुआ तो आज 2004 में भी अगर यह हो रहा है तो छिटपुट और आंशिक रूप से।

तब और अब के मौखिक और लिखित हिंदी बाल साहित्य में कोई विशेष तुलनात्मक अंतर नहीं आया है। आज भी बाल साहित्य की अधिकतर रचनाएं उसी काल्पनिक सच को बार-बार बच्चों के सामने परोस रही हैं। अन्यथा कुल प्रकाशित रचनाओं में पौराणिक सूत्रों पर आधारित नीति और परी कथाओं की संख्या इतनी अधिक कभी न होती। साथ ही आज के आधुनिक युग में भी अनेक पात्र व स्थितियां बाल साहित्य की सीमा से बाहर न खड़ी होतीं।

हमारी लोककथाओं में कुछ पात्र तो सदा ही उपस्थित रहते हैं जैसे न्यायी और प्रजापालक राजा, आज्ञापालक सामान्य जन, जो हर समय राजा की प्रशंसा व जय जयकार करते दिखाई देते हैं। अच्छी परियां, बुरे राक्षस, वीर सेनापति, राजा के लिए सिर कटा देने वाले सैनिक और आम जनता की आकृतिहीन भीड़, जो केवल पृष्ठभूमि का काम करती है। ऐसा साधारण पात्र और विशेषकर बच्चा तो कभी-कभार ही नज़र आता है, जो स्वयं फोकस में उभरकर महिमामंडित पात्रों को भी पीछे छोड़ देता है। हैंस एंडरसन ने अपनी प्रसिद्ध बाल कथा 'राजा के नए कपड़े' में एक छोटे से बच्चे का चरित्र उभारा है जो डरे-सहमे लोगों के बीच कहता है- 'राजा तो नंगा है।' और फिर सब वही दोहराने लगते हैं।

बच्चों की प्रतिष्ठित पत्रिका *नंदन* में अपने 27 वर्षों के कार्यकाल में मुझे भारतीय व विदेशी बाल साहित्य पढ़ने के खूब अवसर मिले। साथ ही हिंदी में लिखी जा रही हजारों बाल कथाओं को पढ़ने के साथ उनके संपादन के दौरान विभिन्न धाराओं के तुलनात्मक आकलन का मौका भी मिला। विचारार्थ आने वाली लगभग 95 प्रतिशत रचनाएं बचपन के उसी काल्पनिक सच को बार-बार दोहराती और परोसती दिखीं जिसकी परंपरा मेरे बचपन के दिनों से भी कहीं बहुत पीछे तक फैली है। यह उसी जादुई कथा सरोवर की करामात है, जहां से सुविधा भोगी लेखक कथाएं निकालते और प्रस्तुत करते चले आ रहे हैं। यह स्थिति पहले थी और आज भी बनी हुई है।

पात्रों की अत्यंत सीमित संख्या, कुछ विशिष्ट पात्रों का बारम्बार महिमा मंडन, परियों के जादू और पशु-पक्षियों के मानवीकरण पर आधारित इस बाल साहित्य धारा ने बाल साहित्य को जैसे एक ही स्थान पर स्थिर करके छोड़ दिया है। इसकी प्रमुख प्रतीति दोहराव और फिर दोहराव की है। सोचकर हैरानी होती है कि कल्पित परिवेश और पात्रों की अत्यंत सीमित उपस्थिति के बावजूद हिंदी बाल साहित्य के भंडार में हजारों-लाखों कथाएं मौजूद हैं।

प्रश्न उभरता है-आखिर उन कथाओं में हमारे परिवेश के साधारण पात्र प्रमुख रूप से उपस्थित क्यों नहीं हैं? वे हज्जाम, द्वारपाल, रसोइए, चंवर डुलाने वाले या अन्य दासों की व्यक्तित्व हीन भूमिकाओं में ही क्यों नज़र आते हैं? मौजूद नहीं हैं- कच्ची झोंपड़ियां में जीवन गंवाने वाले अधभूखे किसान, साधारण पथिक, कामगार, गरीब और अनाथ बच्चे, तथा आज के संदर्भों से जोड़कर कहें तो सड़क से कचरा बीनने वाले, आतिशबाजी के खतरनाक रसायनों से पटाखे बनाते, चूड़ी कारखानों में छीजते- ऐसे लाखों बच्चों के प्रतिनिधि कहां हैं! जो स्कूल नहीं जा सकते, जिनसे उनका बचपन और उससे जुड़े सारे आनंद और उल्लास छीन लिए गए हैं।

इतना ही नहीं, वे न कभी कहानियों की किताबें पढ़ पाएंगे और न कल्पित सच के ताने-बाने में बुनी कथाएं सुनकर क्षणिक आनंद लेने के अवसर ही मिलेंगे उन्हें।

कुल मिलाकर ऐसी सभी कथाओं में, जिन्हें हम बाल साहित्य कहते हैं, सक्रिय पात्रों के रूप में बच्चों की उपस्थिति लगभग नहीं होती है। दूसरी तरफ नैतिक मूल्यों की सीख देने वाली पौराणिक व लोक कथाएं तो बच्चों को केवल श्रोता मानकर उपदेश-दर-उपदेश देती चली जाती हैं।

जिस अनुपस्थिति का संकेत मैं कर रहा हूं, उसकी उपस्थिति की झलक देने वाली कहानियां भी कहीं-कहीं मौजूद हैं। जैसे प्रेमचंद की 'ईदगाह', विश्वम्भरनाथ शर्मा की 'ताई' तथा ऐसी ही दूसरी प्रेरक कथाएं- वे इस नई परंपरा की क्षीण धारा के रूप में मौजूद हैं। इसे अभी पुष्ट होना शेष है।

बाल साहित्य की मुख्य धारा से अनुपस्थित बाल पात्रों को प्रवेश देने वाली कुछ रचनाएं याद आ रही हैं। एक कथा है 'तरकीब' -जिसमें दोसे की दुकान से काम करने वाले एक बाल मजदूर और पसीना बहाने वाले रसोइए की संवेदनशील प्रस्तुति है। वे दोनों कथा-नायक हैं। एक अन्य कथा है- 'बूढ़ी फुटबाल', इसमें बेकार समझकर फेंक दी गई पुरानी फुटबाल को परी अपने जादू से नई फुटबाल में बदलने का प्रस्ताव करती है, लेकिन बूढ़ी फुटबाल कहती है- 'मेरी तरह बूढ़ी फुटबालें हजारों हैं और वैसे ही हैं कामगार, गरीब बच्चे जो कभी खेल ही नहीं पाते।' उसके कहने पर परी शहर की सारी बेकार फुटबालों को अपने जादू से इकट्ठा करके उन वंचित बच्चों को दे देती है। इस कथा में सामान्य परी तत्व का समावेश करते हुए उसे मानवीय संवेदना के कोमल स्पर्श से भी छुआ गया है। हम इसे आधुनिक परीकथा कह सकते हैं।

एक बच्चा है जो सड़कों पर खिलौने बेचकर अपना पेट भरता है। वहां न परी है, न राजा-रानी की कृपा। वहां के पात्र हैं- एक भिखारी, जो उस बच्चे को सहारा देता है, एक ईमानदार सिपाही और दूसरे ऐसे ही साधारण पात्र, जो अपनी सक्रिय भागीदारी से कथा को जीवंत कर देते हैं। कहना न होगा- हमारी पारंपरिक बाल कथाएं ऐसे अति सामान्य पात्रों को अपने अंदर कभी प्रवेश नहीं करने देती।

इसी तरह मैं कुछ बाल गीतों का जिक्र करना चाहूंगा, जिनमें इन कथाओं की तरह पशु-पक्षी, मौसम और घरेलू परिवेश से अलग हटकर नए पात्रों को प्रवेश दिया गया है। एक बाल गीत है 'सड़कों की महारानी' जो झाड़ू लेकर आती है और कूड़ा, मार भगाती है। एक अन्य बाल गीत में लालबत्ती पर गुब्बारे बेचते बच्चों का जिक्र है, जो कुचल जाने का खतरा उठाकर भी इसे करने पर विवश हैं।

इसी तरह दिल्ली के रिक्शावालों पर एक बाल गीत है। जो बताता है कि ये बेघर रिक्शा वाले न जाने कहां-कहां से यहां आकर अपने घर-परिवार की स्मृतियां संजोकर रिक्शा चलाते हैं। वे नहीं जानते कि घर कैसे और कब वापस जाएंगे।

अब समय है कि बाल लेखक समाज के इन उपेक्षित, वंचित पात्रों को अपनी रचनाओं में प्रवेश देकर एक नई धारा बहाएं। पारंपरिक कथाओं के महिमामंडित पात्र अपनी भव्यता के साथ मौजूद रह सकते हैं। जिस रचना में बच्चों की सक्रिय भागीदारी जितनी अधिक होगी- वह सत्य के इस नए आयाम को उतने ही समर्थ ढंग से प्रस्तुत कर सकेगी। अनुपस्थिति को उपस्थिति में बदलना चाहिए।

बच्चों के दिल की बात कहते हैं बाल उपन्यास

हिंदी में ज्यादातर बाल उपन्यास आजादी के बाद लिखे गए। पर यह एक सुखद आश्चर्य की तरह है कि आजादी से पहले हिंदी बाल उपन्यासों के क्षेत्र में पसरे सन्नाटे को तोड़ने का काम सबसे पहले, उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचंद ने किया था। प्रेमचंद की रचना एक कुत्ते की कहानी को अभी तक प्राप्त जानकारी के अनुसार हिंदी का पहला बाल उपन्यास कहा जा सकता है। हिंदी के बाल उपन्यासों का लेखा-जोखा प्रस्तुत कर रहे हैं **प्रकाश मनु**

बाल उपन्यास माने बच्चों के दिल में छिपी तमाम कही-अनकही बातों का खजाना। बाल साहित्य की जितनी भी विधाएं हैं, उनमें बाल उपन्यास में बच्चों का जितना मन खुलता है और जितनी देर तक बच्चा उसके प्रभाव से बंधा हुआ उसमें रमा रहता है, उतना किसी और विधा में नहीं। निस्संदेह बच्चों को अपने लिए लिखी गई कविताएं और कहानियां पढ़ना पसंद है, पर बाल उपन्यास पढ़कर किसी बच्चे को जिस ढंग की तृप्ति मिलती है और वह देर तक उसी प्रभाव में बंधा रहता है, वैसा असर न बच्चों के लिए लिखी गई कहानियों का होता है और न कविताओं का। इसलिए कि बाल उपन्यास का मतलब ही है, बच्चों के लिए दुर्गम और मनोहारी रास्तों पर सैर करना, जी भरकर घूमने-घामने, यहां तक कि उड़ने और उछलने, कूदने-फांदने के लिए एक और भरी-पूरी दुनिया रच देना है। यह दुनिया अगर सचमुच सलीके से रची गई है, तो बच्चों पर उसका सम्मोहन इस कदर हावी हो जाता है कि बरसों तक उसका प्रभाव मन से नहीं उतरता।

मुझे याद पड़ता है, बचपन में *चंदा मामा* पत्रिका में पढ़े कुछेक उपन्यासों के अलावा, *गुलिवर की यात्राएं* वह पहला अविस्मरणीय उपन्यास था, जिसने मानो पहली बार मुझे भीतर से छुआ और जगा दिया था। पहली बार जीवन में कल्पनाओं और बिंबों, चरित्रों और कथानकों का ऐसा पिटारा खुला कि उसका रंग और आकर्षण आज तक फीका नहीं हुआ। मुझे याद है, *गुलिवर की यात्राएं* उपन्यास मुझे पालीवाल इंटर कॉलेज की लाइब्रेरी से मिला था, जो अक्सर बंद रहती थी और हमें जिसका पता तक न था कि यहां लाइब्रेरीनुमा भी कोई चीज है।

आठवें दर्जे में कुछ प्रतिभाशाली विद्यार्थियों को मैनपुरी में किसी कंपीटीशन में हिस्सा लेने जाना था। वहां जाने वाले विद्यार्थियों में एक मैं भी था। जिस दिन जाना था, उससे एक दिन पहले कॉलेज लाइब्रेरी के लौह-कपाट खुले और एक-एक, दो-दो किताबें हम लोगों के हिस्से आई थीं। मुझे बस *गुलिवर की यात्राएं* की ही याद है। उसकी रहस्यपूर्ण कल्पना और किताब में बने चित्र, दोनों ने ही मन पर कुछ ऐसा असर डाला कि लगा, एक दुनिया के भीतर 'एक और दुनिया' बन रही है, जो मेरे बाल मन में कहीं अधिक कौतुक भरती है। कहीं अधिक अपनी-सी है और गुदगुदाती है। जिस प्रतिभा टेस्ट के लिए हम लोग गए थे, उसका क्या हुआ, क्या नहीं, यह अब बिल्कुल याद नहीं है। मगर *गुलिवर की यात्राएं* की यादें आज भी ताजा हैं।

हिंदी में बेशक बाल कविता और कहानियों की तुलना में बाल उपन्यास कुछ पिछड़े रहे। पर ऐसा नहीं कि हिंदी में अच्छे बाल उपन्यास लिखे नहीं गए या लिखे नहीं जा रहे। पिछले दिनों मैं पुरानी पीढ़ी के सशक्त उपन्यासकार भूपनारायण दीक्षित का उपन्यास *नानी के घर में टंटू* पढ़ रहा था, तो उसके साथ-साथ इतनी दूर तक बहता चला गया कि जैसे उपन्यास ने कुछ समय के लिए मुझे भी एक बच्चे में तब्दील कर दिया हो। जितनी देर मैं उस उपन्यास की कथाधारा में बहा, मैं एक-एक क्षण टंटू के साथ ही रहा और उसकी शरारती मुख-मुद्राओं और करामातों का पूरा मजा लेता रहा। उपन्यास खत्म होने के बाद लगा कि बड़े दिनों बाद खुद में तल्लीन कर देने वाली कोई बढ़िया कृति पढ़ सका हूं। मुझे हैरानी इस बात की हुई कि इतने अच्छे और दिलचस्प बाल उपन्यास की हिंदी में जितनी जमकर चर्चा होनी चाहिए थी, उतनी नहीं हुई। और तो और, हिंदी बाल साहित्य के प्रमुख चिंतकों और लेखकों ने भी उसका कोई खास नोटिस नहीं लिया।

भूपनारायण दीक्षित उन पुराने लेखकों में से हैं जिन्होंने बाल साहित्य की प्राय: सभी विधाओं कविता, कहानी, उपन्यास आदि में हाथ आजमाया है और उनकी प्रतिभापूर्ण कला के स्पर्श से ये सभी विधाएं चमक उठी हैं।

नानी के घर में टंटू उपन्यास में किस्सा सिर्फ इतना है कि टंटू के माता-पिता जहां रहते थे, वहां बच्चे के पढ़ने के लिए कोई स्कूल नहीं था। इसलिए टंटू को नानी के घर भेजा गया कि वह पढ़-लिखकर कुछ योग्य बने। पर नानी के गांव में शरारती टंटू के पहुंचते ही, उसकी कारगुजारियों ने एक के बाद एक प्रकट होना शुरू किया, तो नानी तो नानी सारे गांव वालों की आंखें विस्मय से फटने लगीं। और फिर जो-जो तमाशे हुए, उनका आनंद इस उपन्यास को पढ़कर ही लिया जा सकता है। हिंदी में बाल पाठकों को खुद में लीन कर देने वाला ऐसा बाल उपन्यास

कोई और नहीं है।

भूपनारायण दीक्षित के एक और अनूठे उपन्यास *बाल राज्य* की गिनती भी हिंदी के सबसे अच्छे और नए ढंग के बाल उपन्यासों में की जा सकती है। *बाल राज्य* की कल्पना सचमुच अनोखी है। यह एक ऐसा राज्य है, जिसमें बच्चों का शासन चलता है, और सभी प्रमुख काम बच्चे ही करते हैं। कथावाचक बाल राज्य की सैर करने के लिए रेलगाड़ी में सवार होता है। बस तभी से बाल राज्य की एक से एक अनोखी झांकियां उसे मिलनी शुरू हो जाती हैं। बालराज्य ऐसा उपन्यास है, जिसमें बच्चों की दुनिया पूरे कौतुक के साथ मौजूद है।

हिंदी के मूर्धन्य कथाकारों अमृतलाल नागर और भगवतशरण उपाध्याय ने भी बच्चों के लिए उपन्यास लिखे। भगवतशरण उपाध्याय ने *सक्का और शंरा, सागर का घोड़ा, शीश महल की राजकुमारी, खजाने का चोर, सूरजपंखी चिड़िया* सरीखी कथाकृतियों की रचना की। इनमें *सागर का घोड़ा* बाल उपन्यास सचमुच अनोखा है। भगवतशरण उपाध्याय के इस उपन्यास की कथा भूमि उड़ीसा है। पुरी के तट से टकराते समुद्र की सुंदरता के वर्णन से यह उपन्यास शुरू होता है जो वहां के मछुआरों के लिए एक कौतुक-जगत भी है और घर भी। इस समुद्र में नौका-यात्रा करते और रंग-रंग की सीपियां बटोरते मांझिल का बचपन बीता और यहीं पुर्तगाल के गोरे डाकुओं द्वारा अपने पिता की हत्या कर दिए जाने पर उसने रुंधे हुए गले से प्रतिज्ञा की कि वह उन गोरे डाकुओं से पिता की हत्या का बदला लेगा। उपन्यास में मांझिल और उसके पिता के जरिए उड़ीसा के मछुआरों का जीवन इतनी सजीवता से उभरा है कि बच्चे ही नहीं, बड़े भी इस उपन्यास को सांस रोककर पढ़ेंगे।

अमृतलाल नागर का *अक्ल बड़ी या भैंस* (1982) भी बच्चों को खुद में लीन कर देने वाला बाल उपन्यास है। एक ऐसा मजेदार बाल उपन्यास जिसमें उनकी आत्मकथा के रंग छिटके हुए नजर आते हैं। यही वजह है कि इसमें बांध लेने वाला कथा रस है, हास्य-विनोद के छींटे जिसके आनंद को लगातार बढ़ाते हैं। पर इसके साथ-साथ इसमें गांव के चरित्रों की असलियत और यथार्थ का ऐसा दृश्यांकन है, जो भुलाए नहीं भूलता।

हिंदी में ज्यादातर बाल उपन्यास आजादी के बाद लिखे गए। पर यह एक सुखद आश्चर्य की तरह है कि आजादी से पहले हिंदी बाल उपन्यासों के क्षेत्र में पसरे सन्नाटे को तोड़ने का काम सबसे पहले उपन्यास सम्राट प्रेमचंद ने किया था। प्रेमचंद की रचना *एक कुत्ते की कहानी* को अभी तक प्राप्त जानकारी के अनुसार हिंदी का पहला बाल उपन्यास कहा जा सकता है।

अंग्रेजी में जैसे *ब्लैक ब्यूटी* एक घोड़े की कहानी है, प्रेमचंद की *एक कुत्ते की कहानी* भी लगभग उसी अंदाज और ढंग की है, जिसे उन्होंने खासी मौलिक रंगत दी है। कुत्ते का नाम कल्लू है। उसका एक भाई है, मां है, पर उनसे कल्लू का स्वभाव अलग है। जब उसका भाई ही उससे जबरन रोटी छीन रहा होता है, तो कल्लू दुखी होकर सोचता है, "हम कुत्तों में यही तो बुराई है। एक कुत्ता दूसरे का सुख नहीं देख सकता।" कितना जोरदार व्यंग्य है। उपन्यास के आखिर में उसके पास सारे सुख हैं। अखबारों में उसकी वीरता की कहानी छप चुकी है। लोग लाखों रुपये देकर उसे खरीदना चाहते हैं। नौकर-चाकर हमेशा सेवा करने और टहलाने के लिए मौजूद हैं। साहबों की तरह टेबल पर खाना मिलता है। पर कल्लू सुखी नहीं है। उसका मन अब भी पहले की तरह गलियों में घूमने और धमा-चौकड़ी मचाने को करता है। वह कहता है- "अब मेरे पास सारे सुख हैं लेकिन गले में गुलामी का पट्टा बंधा हुआ है। सच है, गुलामी से बड़ा कोई दुख नहीं है।" उपन्यास के अंत में यह संकेत करके प्रेमचंद खेल-खेल में आजादी की लड़ाई की पूरी मर्म-भावना और तड़प को प्रकट कर जाते हैं।

यही तड़प *दुर्गादास* के चरित्र में है, जिसने अपनी वीरता और साहस से मुगल बादशाह के दांत खट्टे कर दिए। पर इस बहादुर वीर राजपूत का वह बाल बांका नहीं कर पाया था। प्रेमचंद ने *दुर्गादास* को जीवनी के रूप में लिखा है। पर निस्संदेह उसकी पूरी बनावट और कथा विन्यास को देखकर लगता है कि यह जीवनी के साथ-साथ हिंदी का अपूर्व ऐतिहासिक बाल उपन्यास भी है।

जाहिर है, प्रेमचंद के *एक कुत्ते की कहानी* सरीखे महत्त्वपूर्ण बाल उपन्यास को शामिल कर लिया जाए, तो भी हिंदी में मौलिक बाल उपन्यासों की धारा मोटे तौर से आजादी के बाद ही दिखाई देती है। आजादी के बाद के दौर में लिखा गया पहला मौलिक और सच में बच्चों की भाषा में बच्चों के लिए लिखा गया उपन्यास भूपनारायण दीक्षित का *खड़-खड़ देव* माना जा सकता है। हालांकि इस दौर में दयाशंकर मिश्र 'दद्दा' तथा अयोध्या प्रसाद झा जैसे समर्थ बाल उपन्यासकार भी सक्रिय रहे हैं। दयाशंकर मिश्र 'दद्दा' का *दीनू बेटा* तथा अयोध्या प्रसाद झा के *लाल पुतला, स्वर्ण अभियान, नकपुरी, वे भाई के लाल* ऐसे बाल उपन्यास हैं जो हिंदी बाल उपन्यास की विकास-यात्रा में ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं। ये निस्संदेह बच्चे के मन और मनोविज्ञान के हिसाब से लिखी गई कथात्मक कृतियां हैं और इनमें मौलिकता के साथ-साथ एक तरह की अंतर्हित पूर्णता भी है।

पर जहां तक भूपनारायण दीक्षित का सवाल है, उनका कद इन सभी से बड़ा है। इसलिए कि उनके यहां जिस तरह बच्चों के साथ एकमेक हो जाने वाला खिलंदड़ापन और नटखटपन है, वह इस दौर में उनके अलावा बहुत कम लोगों में मिलता है। सच तो यह है कि भूपनारायण दीक्षित इस दौर में बाल उपन्यास की दुनिया में लगभग एक आश्चर्य की तरह उपस्थित होते हैं। बेशक वे हिंदी बाल उपन्यास के शलाका पुरुष हैं और अगर कोई कहना चाहे कि भूपनारायण दीक्षित हिंदी बाल उपन्यास के प्रेमचंद यानी बेताज के बादशाह हैं, तो जरा भी आश्चर्य न होगा!

भूपनारायण दीक्षित का *खड़-खड़ देव* बाल उपन्यास पढ़ते हुए, स्वर्ण सहोदर की एक अद्भुत बाल कविता बार-बार याद आती है- "नटखट हम हो नटखट हम / करने निकले खटपट हम।" *खड़-खड़ देव* में भी नटखट बच्चों की यही शरारत है और मौका भी ऐसा ही है- होली का। बच्चे शरारत न करें तो त्यौहार का मजा क्या खाक आएगा। लिहाजा बच्चों की एक टोली गधे के गले में रस्सी से एक खाली कनस्तर बांध देती है और फिर उस गधे को जगह-जगह घुमाया जाता है। मित्रों के लिए होली का यह जलूस कितना आनंददायक रहा होगा, यह कल्पना की जा सकती है।

शाम होने पर बच्चे उस गधे को तो छोड़ देते हैं, पर उसके गले में खाली कनस्तर अभी भी बंधा रहता है। कनस्तर की खड़-खड़ की आवाज खुद गधे को इतनी अजीब लगती है कि वह बस ताबड़तोड़ भागता जाता है। और भागते-भागते एक जंगल में जा पहुंचता है। जंगल के जानवरों के लिए भी यह आवाज एकदम नई और अजीब-सी है। तिस पर गधे का यों बदहवास भागते जाना। उन्होंने सोचा, यह तो कोई अजीब ही खड़खड़ देव आ गए। फिर वहां उस खड़-खड़ देव के क्या खेल-तमाशे हुए और शहर की होली के साथ-साथ जंगल में भी कैसी विचित्र होली मनी, इसे भूपनारायण दीक्षित का *खड़-खड़ देव* एकदम सहज, ग्राम्य हिंदुस्तानी मुहावरे में हमारे सामने रखता है।

हिंदी बाल उपन्यास धारा का दूसरा चरण छठे दशक के अंत से लेकर मोटे तौर पर सातवें दशक तक जाता है। इस दौर में बाल उपन्यासों की विकास-यात्रा तेजी से बढ़ी तथा विविध विषयों और कथा-भूमियों से जुड़े ढेरों बाल उपन्यास लिखे गए। लगता था हिंदी बाल उपन्यासों की धारा जो अभी तक काफी पिछड़ी हुई थी, अपने दूसरे चरण में खासी तेजी पकड़कर मानो शुरूआती अभाव की पूर्ति कर लेना चाहती थी।

दूसरे चरण में पारंपरिक ढंग के कथानक वाले तथा ऐतिहासिक उपन्यास खूब लिखे गए। साथ ही बाल उपन्यासों में नए-नए प्रयोग करके उन्हें बच्चों के कल्पना संसार और भीतर-बाहर की मुश्किलों और चिंताओं के नजदीक लाने की कोशिशें भी शुरू हुईं। इसी तरह विज्ञान फंतासी से जुड़े बाल उपन्यास तथा जासूसी बाल उपन्यास भी खूब लिखे गए।

इस दौर के चर्चित उपन्यासों में, हिमांशु श्रीवास्तव के *चंदा मामा दूर के*, सत्यप्रकाश अग्रवाल के *एक डर पांच निडर*, कृश्न चंदर के *खरगोश का सपना*, लक्ष्मीनारायण लाल के *हरी घाटी*, द्रोणवीर कोहली के *करामाती कद्दू* तथा हरिकृष्ण देवसरे के *डाकू का बेटा* उपन्यासों की उनके नएपन और मौलिक ढंग की रचनाधर्मिता के कारण खासी चर्चा रही। द्रोणवीर कोहली अतिशय विनम्रतावश अपने बाल उपन्यास *करामाती कद्दू* को मौलिक उपन्यास न मानकर विदेशी कृतियों से प्रभावित मानते हैं। संभव है, ऐसी कोई हल्की छाया वहां रही हो, पर द्रोणवीर कोहली की शैली का जादू और अंदाजेबयां ऐसा है कि *करामाती कद्दू* एक मौलिक बाल उपन्यास का-सा रस आनंद देता है।

हिंदी बाल उपन्यास का तीसरा चरण उसकी विकास यात्रा का शीर्ष चरण है। इसे हम मोटे तौर से आठवें दशक के आसपास मान सकते हैं। निस्संदेह यह दौर हिंदी बाल उपन्यास का स्वर्णिम दौर है जिसमें इतनी विविधता भरे, नई-नई कथाभूमियों का संधान करने वाले और कलात्मक रूप से इतने मुकम्मल बाल उपन्यास लिखे गए, इतनी अधिक संख्या में वे छपे भी कि आज उस दौर की चर्चा करना ही मानो हमें एक तरह के विस्मय से भर देता है।

हिंदी बाल उपन्यासों की विकास यात्रा के इस चरण में संभव है कि सौ से अधिक बाल उपन्यास लिखे गए हों। इनमें ऐसे महत्वपूर्ण और चर्चित बाल उपन्यास हैं जिनकी चर्चा के बिना इस दौर के बाल उपन्यासों का इतिहास नहीं लिखा जा सकता, ये हैं- भगवतशरण उपाध्याय का *सागर का घोड़ा* (1970) बांके बिहारी भटनागर का *जय सोमनाथ* और *मेवाड़ का सूर्य*, शांति भटनागर का *मां का आंचल* और *नन्हे जासूस*, स्वदेशकुमार का *हाथियों के घेरे में*, वीरकुमार अधीर का *बीस बरस की मौत*, *बर्फ का आदमी*, *एक घंटे बाद*, *बोतल में बंद आदमी*, रामकुमार भ्रमर का *डाकुओं के बीच*, मधुकर सिंह का *राधा*, राधेश्याम प्रगल्भ का *शाही हकीम*, *एक कटोरा पानी*, *इंदल का विवाह*, ललित सहगल का *बीरबल*, विमला शर्मा का *एक था छोटा सिपाही*, अवतार सिंह का *खोखला सिक्का*, राजेशकुमार जैन का *नकली चांद*, हरिकृष्ण देवसरे का *होटल का रहस्य*, *सुरखाब के पर*, *सोहराब रुस्तम*, *जाली नोट*, *जाली चेक*, विभा देवसरे का *शनिलोक*, देवेन्द्रकुमार का *नानी मां का महल*, यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' का *अस्सी घाव*, वीरेन्द्रकुमार गुप्त का *चाणक्य*, श्री व्यथित हृदय का *आकाशवाणी*, कुणाल श्रीवास्तव का *राजपूत का बेटा* और *लवकुश*, योगेश गुप्त का *रेडियो का सपना*, ओमप्रकाश का *चांद से आगे* , जय प्रकाश भारती का *नमक का कर्ज*, गोविंद सिंह का *सूरज का बेटा*, तथा चंद्रदत्त इंदु का *रामगंगा का शेर*।

तीसरे चरण के बाल उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी कलात्मक पूर्णता और विविधता है। मानो उस कालखंड में लिखे गए बाल उपन्यास जीवन के उन सभी क्षेत्रों में जिनमें बच्चे की उत्सुकता होती है, आंक लेना चाहते हैं। इस दौर में एक ओर ऐसे उपन्यास लिखे गए, जिनमें मौजूदा यथार्थ जीवन और उसमें बच्चे की मुश्किलों की चर्चा थी, तो दूसरी ओर ऐतिहासिक कथानकों और इतिहास-प्रसिद्ध पात्रों को बाल उपन्यासों के जरिए सामने लाने वाले उपन्यासों की बेहद सशक्त और दमदार धारा दिखाई पड़ती है।

हिंदी बाल उपन्यास अपनी विकास-यात्रा के तीसरे चरण में काफी ऊंचाईयों को छू चुका था। कहा जा सकता है कि इस विकास में तेजी भी थी, ऊंचाई भी। इस लिहाज से उम्मीद की जा सकती थी कि बाल उपन्यासों की आगे की यात्रा बहुत समृद्ध और विकासमान है। पर दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हो सका। हिंदी बाल उपन्यास धारा में आगे उपन्यास लिखे तो गए और सुंदर बाल उपन्यास लिखे गए, पर आठवें दशक में बाल उपन्यासों में जो उत्साहप्रद माहौल था और जो तेज संभावनाएं कौंध रही थीं, वे पूरी नहीं हुईं और हिंदी बाल उपन्यास लेखन की गति कुछ मंद पड़ गई। इस दौर अर्थात चौथे चरण के बाल उपन्यासों और उनके लेखकों पर एक नजर डालें, तो कम से कम यह चीज आश्वस्त करती है कि पहले की तरह इस दौर में भी एक साथ कई पीढ़ियों के लेखक बाल उपन्यासों की रचना में सक्रिय रहे हैं।

चर्चित और उल्लेखनीय बाल उपन्यास जिनसे इसका मूल्यांकन किया जाना चाहिए, ये हैं- अमृतलाल नागर का *अक्ल बड़ी या भैंस* (1982), भूपनारायण दीक्षित का *बाल राज्य* (1988), *नानी के घर में टंटू* (1992), गुलजार का *बोस्की के कप्तान चाचा* (1986), बल्लभ डोभाल का *उस्ताद भूरेलाल* (1996), भगवतीशरण मिश्र का *नागों के देश में* (1988), विनायक का *नदिया और जंगल* (2002), रमेश थानवी का *घड़ियों की हड़ताल* (1989) क्षितिज शर्मा का *भवानी के गांव का बाघ* (1994) तथा *पामू का घर* (1997), गीता पुष्प शॉ का *आंगन-आंगन फूल खिले हैं* (1981), देवेन्द्र कुमार का *पेड़ नहीं कट रहे हैं* (1989) तथा *चिड़िया और चिमनी* (2000), शकुंतला वर्मा का *पांच जासूस* (1996), क्षमा शर्मा का *दूसरा पाठ* (1991), *शिब्बू पहलवान* (1992), *पन्ना धाय* (1993), *मिट्टू का घर* (1996), *पीलू* (1998), *राजा बदल गया* (1996), *इंजन चले साथ-साथ* (1998) तथा *होमवर्क* (2000), हरिपाल त्यागी का *ननकू का पाजामा* (2003), अमर गोस्वामी का *शाबाश मुन्नू* (2003), चित्रा मुद्गल का *माधवी कन्नगी* (2002), पंकज बिष्ट का *भोलू और गोलू* (1994), रतन शर्मा का *काजू और किशमिश* (2000) बलबीर त्यागी का *कमाल का कमाल* (1996), यादराम रसेन्द्र का *सत्य का बल* (1991), इरा सक्सेना का *कंप्यूटर के जाल में* तथा *गजमुक्ता की तलाश* (2000), अभिलाष वर्मा का *गोल्डी सिल्विया के कारनामे* (2000) तथा उषा यादव के *लाखों में एक* नन्हा दधीचि, *सोना की आंखें*, *पारस पत्थर* आदि।

जाहिर है, इस दौर में परंपरागत ढंग के कथानक वाले या उपदेशात्मक किस्म के बाल उपन्यास भी कम नहीं लिखे गए पर उनके साथ-साथ ऐसे बाल उपन्यास भी खासे लिखे गए जो बच्चों के मन, कल्पना और सुख दुख से सीधा संवाद कायम करके उन्हें अपने साथ एक नई निराली दुनिया की सैर कराने ले जाना चाहते थे।

हिंदी में परंपरागत ढंग की, वर्णनात्मक कथा शैली वाले बाल उपन्यास शुरू से लेकर आज तक निरंतर लिखे जाते रहे हैं। इनमें कुछ उपन्यास तो एकदम बंधी-बंधाई या घिसी-पिटी कथा-शैली के कारण बासी और निष्प्रभावी लगते

हैं। पर बीच-बीच में ऐसे उपन्यास भी लिखे गए, जो परंपरागत शैली के होते हुए भी, बाल पाठकों को अपने साथ बहा ले जाते हैं। और कुछ न कुछ नया और ताजगी भरा अनुभव उनके अंत: संसार में जोड़ते हैं। चित्रा मुद्गल का बाल उपन्यास *माधवी कन्नगी* पारंपरिक ढंग का बाल उपन्यास ही है, पर वह बच्चों के अनुभव-संसार में बहुत कुछ नया जोड़ता है। सबसे बड़ी बात यह कि वह उत्तर और दक्षिण के बीच अपरिचय की दीवार को तोड़कर एक तरह का पुल बनाने का काम करता है। *माधवी कन्नगी* की कथा एक प्रसिद्ध तमिल कृति पर आधारित है। यह कथा तमिलनाडु के लोगों के मन और अंत: संसार में इस कदर बसी हुई है कि इसे एक लोक आख्यान जैसी व्यापकता और प्रसिद्धि हासिल है।

हिंदी में ऐसे बाल उपन्यास भी कई लिखे गए हैं जिनके केंद्र में कोई बच्चा या किशोर है, पर जिसकी छवि भावुक या स्वप्निल आदर्शवादी किस्म की अधिक है। ऐसे उपन्यासों में आदर्श कई बार इतना अधिक हावी हो जाता है कि लगता है, बचपन का सहज कौतूहल, नटखटपन या शरारतीपन कुछ दब-सा गया है। और कहीं-कहीं नायक का इस तरह का एकरेखीय विकास हुआ है कि वह जीवित व्यक्ति कम, आदर्श का पुतला अधिक लगता है। पर इस तरह की धारा में भी अच्छे बाल उपन्यास लिखे जाते रहे हैं, जिनमें भावुक आदर्शवादिता के बावजूद लेखक की कथा पर बराबर पकड़ बनी रहती है। उषा यादव का *नन्हा दधीचि*, श्रीनिवास वत्स का *मां का स्वप्न*, क्षमा शर्मा का *दूसरा पाठ* और ब्रजभूषण का *सोमू* ऐसे ही उपन्यास हैं।

इनमें उषा यादव का *नन्हा दधीचि* कुछ अधिक ही आदर्शवादी लगता है। उपन्यास में धनी परिवार के एक संवेदनशील बच्चे दीपक की कहानी है, जो किसी का भी दुख-दर्द देख कर व्याकुल हो जाता है और उसे दूर करने के लिए कोई भी खतरा उठाने के लिए तैयार रहता है।

श्रीनिवास वत्स का उपन्यास *मां का स्वप्न* (1997) अति भावुकता से ग्रस्त होने पर भी, बाल पाठकों के मन को छू लेता है। मां की ममता और करुणा मानो खुद-ब-खुद यहां कथा की शक्ल ले लेती है।

ब्रज भूषण का *सोमू* (1997) भी इसी तरह का एक आदर्शवादी बाल उपन्यास है, जिसका केंद्रीय पात्र एक अभावग्रस्त विकलांग बच्चा सोमू है। सोमू असहाय है। बिना बैसाखी के उसके लिए चलना मुश्किल है पर इसके बावजूद उसके भीतर कुछ बनने और कुछ कर दिखाने का जज्बा है।

क्षमा शर्मा का *दूसरा पाठ* और वरिष्ठ लेखिका शांति भटनागर का *मां का आंचल* इस लिहाज से कहीं अधिक बेहतर और विश्वसनीय बाल उपन्यास हैं। क्षमा शर्मा के उपन्यास *दूसरा पाठ* में आदर्शवादी तरुण गौतम की कथा है।

परंपरावादी कथाशैली के कुछ और बाल उपन्यास हैं- मधुकर सिंह का *राधा* (1978), गीता पुष्प शॉ का *आंगन आंगन फूल खिले* (1981), भगवतीशरण मिश्र का *नागों के देश में* (1988), गंगारतन पांडे का *तेतो पांव पसारिए जेती लांबी सौर* (1988), शिवापुत्रम् का *धुआं जो शराब से उठा* (1979) तथा दिनेश चमोला दिनेश के *टुकड़ा-टुकड़ा संघर्ष* और *एक का रॉबिन*।

इनमें मधुकर सिंह का *राधा* अपेक्षाकृत बेहतर उपन्यास हैं। लोकशैली के इस उपन्यास में एक परंपरागत लोक कथा का ही नया रूपांतरण दिखाई देता है। मधुकर सिंह ने रोचक ढंग से इसे लिखा है, जिसमें लोक भाषा और शैली का बड़ा इस्तेमाल है।

डा. भगवतीशरण मिश्र का *नागों के देश में* और गीता पुष्प शॉ का *आंगन-आंगन फूल खिले* परंपरागत शैली के ठीक ठाक बाल उपन्यास हैं। *नागों के देश में* की कथाभूमि राजा ब्रह्मदत्त के जमाने की वाराणसी से लेकर नागों की अनोखी दुनिया तक फैली है और इसे लोक कथाओं वाली शैली में लिखा गया है। बीच-बीच में बौद्ध परिवेश, पात्र और घटना-चक्र भी आकर जुड़ते हैं। उपन्यास में नाटकीयता और रोचकता तो खासी है, पर नयापन नहीं है। तो भी बच्चे इसे पढ़ना पसंद करेंगे।

हिंदी के बाल उपन्यासों में सबसे लोकप्रिय शायद ऐतिहासिक बाल उपन्यास हैं। ऐसे उपन्यास जो इतिहास के महान चरित नायकों, उनकी वीरतापूर्ण लड़ाइयों और तेजस्वी चरित्रों को पूरी नाटकीयता के साथ सामने रखते हैं। इस लिहाज से प्रेमचंद का *दुर्गादास* जिसे उन्होंने जीवनी के रूप में लिखा था, हर तरह से हिंदी का पहला सफल ऐतिहासिक बाल उपन्यास ठहरता है।

हरिकृष्ण देवसरे का *सोहराब रुस्तम*, *आल्हा-ऊदल*, बांकेबिहारी भटनागर का *जय सोमनाथ*, यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र का *राण सांगा* और राधेश्याम प्रगल्भ का *दोस्त की कुर्बानी* भी बच्चों में वीरता और देश भक्ति की भावना भरने वाले ऐतिहासिक बाल उपन्यास हैं।

हिंदी के ऐतिहासिक बाल उपन्यासकारों में सुशील कुमार और मनहर के नाम भी खासे चर्चित हैं। सुशील कुमार के *आचार्य चाणक्य*, *चन्द्रगुप्त मौर्य*, *ज्वालामुखी के फूल*, *सीता*, *विश्वामित्र*, *महाबली इन्द्र*, *चक्रवर्ती दशरथ*, *महाकवि कालिदास*, ऐसे ऐतिहासिक बाल उपन्यास हैं जो पाठक को बांध लेते हैं। सुशील कुमार अपने चरित-नायकों को बहुत आत्मीय ढंग से उभारते हैं, पर उनका चरित्र-विकास भावुकतापूर्ण न होकर विश्वसनीय बना रहता है। इसी तरह मनहर चौहान ने भी कुछ बेहतरीन ऐतिहासिक बाल उपन्यास लिखे हैं जो अपनी नाटकीयता और तेजस्वी चरित्रों के कारण ध्यान खींचते हैं। *खूब लड़ी मर्दानी*, *जय भवानी*, *हल्दी घाटी* मनहर चौहान के कुछ प्रसिद्ध ऐतिहासिक बाल उपन्यास हैं। इनमें महाराणा प्रताप के जीवन पर लिखा गया *हल्दी घाटी* बेशक बाल पाठकों के आगे महाराणा प्रताप की एक वीर और तेजस्वी छवि रख पाने में कामयाब है।

राधेश्याम प्रगल्भ के उपन्यास *शाही हकीम* का ऐतिहासिक बाल उपन्यासों की धारा में काफी प्रमुखता से जिक्र किया जाना चाहिए। इस बाल उपन्यास की खासियत यह है कि इसमें केवल ऐतिहासिक वृत्तांत की नाटकीय प्रस्तुति ही नहीं है, बल्कि उसके पीछे इंसानियत और इंसानी प्रेम का इतना गहरा आदर्श भी है जो शब्दों से सीधा दिल में उतर जाता है। ललित महगल का *बीरबल* जीवनीपरक उपन्यास है। पर चूंकि इसके पात्र बीरबल और शहंशाह अकबर इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्तित्व हैं, इसलिए बेशक यह ऐतिहासिक उपन्यास भी है।

रूपसिंह चंदेल ने भी बच्चों के लिए कुछ अच्छे उपन्यास लिखे हैं। उनके *क्रांतिदूत अजीमुल्ला खां* (1992) तथा *अमर बलिदान* (1991) खासे प्रभावशाली बाल उपन्यास हैं। इनमें *अजीमुल्ला खां* उपन्यास में सन् 1887 के भारतीय स्वाधीनता संग्राम का बड़ा गौरवशाली चित्र सामने आता है। रूपसिंह चंदेल का *अमर बलिदान* उपन्यास भी देशभक्ति की भावनाओं से छलछलाता उपन्यास है, जो भारतीय स्वाधीनता संग्राम के कुछ महत्वपूर्ण पन्नों को खुद में समेटे हुए है।

बाल पाठक ऐसे उपन्यासों को भी काफी पसंद करते हैं, जिनके पीछे किसी परीकथा की-सी मनोरम फंतासी हो। विश्व की प्राय: सभी समर्थ भाषाओं में ऐसे

उपन्यास बहुत लिखे गए हैं और अब भी निरंतर लिखे जा रहे हैं। पर हिंदी बाल साहित्य की हालत इस मामले में अच्छी नहीं है। हिंदी में अच्छी और अनूठी कल्पनाओं से जुड़ी परीकथाएं तो बहुत लिखी जाती हैं पर किसी परीकथा या फंतासी कथा के शिल्प पर आधारित अच्छे उपन्यास अधिक नहीं लिखे गए।

अलबत्ता ऐसे उपन्यासों में देवेन्द्रकुमार का *नानी मां का महल* खासकर याद आता है। इस उपन्यास की खासियत यह है कि इसमें यथार्थ और कल्पना के बीच एक बड़ा झीना-सा रिश्ता है। वह इस फंतासी उपन्यास को एक अलग पहचान देता है।

मनोरंक कल्पना और फंतासी से जुड़े बाल उपन्यासों में समर्थ कथाकार अमर गोस्वामी द्वारा लिखी गए *शाबाश मुन्नू* की भी चर्चा की जानी चाहिए। एक ऐसा उपन्यास जिसे पढ़ते हुए कदम-कदम पर अमर गोस्वामी की उस्तादाना कला के स्पर्श को महसूस किया जा सकता है। अमर गोस्वामी की कथा-शैली में हास्य विनोद की मनोरम छटाएं बीच-बीच में खासा मनोरंजन करती चलती हैं। फिर इस उपन्यास में तो लोक कथाओं वाली शैली को ही एक नया अंदाज देकर अपनाया गया है जिससे इस छोटे से बाल उपन्यास में एक अनूठा रस आ गया है।

आज के वैज्ञानिक युग में बच्चे पौराणिक कथा-कहानियों और अंध विश्वासों से ऊपर उठकर विज्ञान और वैज्ञानिक सोच के ज्यादा निकट आ रहे हैं तथा एक ऐसे वैज्ञानिक युग में जी रहे हैं, जहां विज्ञान ने अपनी दुर्जेय शक्ति और चमत्कारों से एकदम असंभव लगती चीजों को भी संभव कर दिखाया है। लिहाजा हिंदी में ऐसे बाल उपन्यास लिखे गए हैं और निरंतर लिखे जा रहे हैं जिनमें बच्चों के मन की कल्पनाएं विज्ञान के सहारे उड़ान भरती हैं। ऐसे उपन्यासों में सौर मंडल के ग्रहों-उपग्रहों और उड़नतश्तरियों के रहस्यों को जानने की इच्छा तो है ही, साथ ही जो नई तकनीक और मशीनें आई हैं, जीवन पर उनके अच्छे-बुरे प्रभाव को समझने की कोशिश हुई है।

इस लिहाज से इरा सक्सेना का उपन्यास *कंप्यूटर के जाल में* खासी ताजगी लिए हुए है। उपन्यास की कहानी कुल मिलाकर यह है कि एक स्कूल के मेधावी बच्चे अंशुमान को अचानक एक अपराधी गिरोह अगवा कर लेता है। स्कूल से किसी बहाने उसे बाहर बुलाया जाता है और फिर अपराधी कार में बिठाकर उसे ले उड़ते हैं। अंशुमान क्योंकि कंप्यूटर में खासा होशियार है और कंप्यूटर की नेटवर्किंग के बहुत से भेद उसे पता हैं, इसलिए अपराधी लोग चुनकर उसे ही अगवा करते हैं। वहां उसे डरा धमकाकर एक कंप्यूटर के आगे बैठा दिया जाता है और अब उसके जिम्मे काम है- एक बैंक के खाते से पैसा निकालकर, उसी बैंक के दूसरे खाते में जमा करना। अंशुमान बुरी तरह परेशान और घबराया हुआ है। लेकिन इस हालत में भी अपना धीरज नहीं छोड़ता और आखिरकार अपराधियों को पकड़वाकर ही मानता है। अंशुमान का चरित्र उपन्यास में सचमुच खूब करीने से उभरा है।

इसके अलावा विभा देवसरे का *शनिलोक*, हरिकृष्ण देवसरे का *होटल का रहस्य*, योगेश गुप्त का *रेडियो का सपना*, ओमप्रकाश का *चांद से आगे*, तथा ओमप्रकाश कश्यप का *विजयपथ* भी उम्दा वैज्ञानिक बाल उपन्यास है। इनमें विभा देवसरे का *शनिलोक* एक बिल्कुल अलग तरह का वैज्ञानिक बाल उपन्यास है, जिसका कल्पना-लोक और फंतासी सचमुच बच्चों को रिझा लेती है। इस उपन्यास का नायक एक किशोर है। अखबारों, पत्रिकाओं में उड़नतश्तरियों के बारे में कुछ और जानने की उत्सुकता होती है। उसने अपने वैज्ञानिक पिता से यह चर्चा की तो पिता उसे उड़नतश्तरियों पर एक किताब पढ़ने के लिए देते हैं। रात को उपन्यास का वह किशोर नायक वही किताब पढ़ते-पढ़ते सो गया। सपने में उसे उड़नतश्तरियां अपने साथ उड़ाकर शनिलोक ले गईं, जहां एक उन्नत सभ्यता बसी हुई है। वहां की सुंदरता सचमुच किसी अनदेखे और अद्वितीय कल्पना-लोक जैसी लगती है। इस सुंदर बाल उपन्यास की खूबी यह है कि उपन्यास खेल-खेल में बच्चों को दुनिया के आगामी वैज्ञानिक विकास की एक झलक दे देता है।

वीर कुमार अधीर का *बीस बरस की मौत* भी एक अनोखा वैज्ञानिक बाल उपन्यास है। इस उपन्यास का केंद्रीय विचार यह है कि एक दिन विज्ञान मृत्यु पर भी विजय पा लेगा। और यह संभव है कि मनुष्य अनंतकाल तक जिए। हुआ यह कि बर्फीले प्रदेश में साहसिक यात्रा पर निकला एक यात्री बर्फ में दब गया। उसके कोई बीस साल बाद उस बर्फीले क्षेत्र में यात्रा कर रहे एक साहसिक अभियान दल को उसका पता चला। और जब बर्फ को खोदकर उसे निकाला गया, तो यात्रियों के लिए ही नहीं, वैज्ञानिकों के लिए भी यह परम आश्चर्य की बात थी कि वह आदमी जीवित था। भले ही बीस साल तक बर्फ में दबा हुआ आदमी बीस साल लंबी बेहोशी की हालत में क्यों न रहा हो, पर मृत्यु उसे अपना ग्रास नहीं बना सकी। डा. एल्फाबेट सोचते हैं, अगर इसी तरह मनुष्य को उसके अनुकूल ताप आदि मुहैया कराया जाए, तो हो सकता है कि वह हजारों सालों तक जिए।

वीरकुमार अधीर का बाल उपन्यास *हिम मानव* और उनसे जुड़े रहस्यों के बारे में खासी रोचक जानकारी देता है। हिम मानव कहां-कहां देखे गए, उनकी शक्लें और स्वभाव कैसा है, इस बारे में वीरकुमार अधीर ने खासी प्रामाणिक और शोधपरक जानकारी इकट्ठी की है।

इस तरह हिंदी में अच्छे वैज्ञानिक उपन्यास लिखे तो गए हैं और उनमें वैज्ञानिक जानकारी के साथ-साथ कथारस या किस्सागोई भी काफी है, पर उनकी संख्या दुर्भाग्य से अधिक नहीं है। आज का युग, विज्ञान युग है जिसमें एक से एक दिलचस्प वैज्ञानिक जानकारियों का नित नया विस्फोट हो रहा है। उसे रोमांचक कथा में ढालकर बच्चों के आगे लाना एक बड़ी चुनौती है।

बच्चे ऐसे उपन्यासों को बहुत पसंद करते हैं जिनके केंद्र में बच्चे हों। बच्चों की शरारतें, खेलकूद और जमकर धमा-चौकड़ी हो या फिर किसी और तरह के मजेदार और हैरतअंगेज कारनामे हों। इन्हें पढ़कर बाल पाठकों को भी जैसे कुछ नया कर गुजरने की ऊर्जा और ताजगी मिलती है। कुछ और नहीं तो हंसाते-हंसाते लोटपोट कर देने का गुण तो ऐसे उपन्यासों में होता ही है, जिससे बच्चे अपनी बहुत-सी मुश्किलें और तनाव भूल जाते हैं और फिर से तरोताजा हो जाते हैं। विश्व की सभी अच्छी भाषाओं में ऐसे बाल उपन्यास बहुत लिखे गए है और अब भी निरंतर लिखे जा रहे हैं। पर हिंदी में जाने क्यों ऐसे उपन्यासों का टोटा है फिर भी अभिलाष वर्मा का *गोल्डी सिल्विया के कारनामे*, रतन शर्मा का *काजू और किशमिश* तथा गुलजार का *बोस्की के कप्तान चाचा* ऐसे उपन्यास हैं बच्चे जिनका भरपूर मजा लेंगे।

इनमें अभिलाष वर्मा का *गोल्डी सिल्विया के कारनामे* खासा दिलचस्प है। इसलिए कि इसके किशोर पात्र गोल्डी और सिल्विया टाइप्ड नहीं, सचमुच बड़े जीवंत पात्र हैं। उनका वर्णन भी लेखक ने इतने दिलचस्प अंदाज में किया है कि बार-बार इन नटखट पात्रों की शरारती मुद्राएं और शक्लें उपन्यास से निकलकर आंख के आगे नाचने लगती हैं।

रतन शर्मा के उपन्यास *काजू और किशमिश* में दो छोटे बच्चों काजू और

किशमिश की भोली, नटखट शरारतों का किस्सा है। काजू अपनी बहन किशमिश से कोई साल भर बड़ा है। पर शरारातों के मामले में दोनों में से कोई कम नहीं है। इस बाल उपन्यास की खासियत यह है कि काजू और किशमिश की ये शरारतें खुद उनकी मां बड़े सहज आत्मकथात्मक तरीके से बयान करती है।

गुलजार का *बोस्की के कप्तान चाचा* इन सब से अलग हटकर लिखा गया सचमुच निराला उपन्यास है। उपन्यास इतना मजेदार है कि बच्चे इसके शब्द-शब्द का पूरा आनंद लेंगे। इस उपन्यास की भी कथा छोटी-सी है। पर बात कहने का अंदाज बड़ा गजब का है। जिस 'जयहिंद चाल' की यह कहानी है, उसी में ऊपर कप्तान चाचा रहते हैं जिनकी 'चाल' के बच्चों से गहरी दोस्ती है। हालत यह है कि न तो कप्तान चाचा बच्चों बगैर रह पाते हैं और न बच्चों को ही कप्तान चाचा के बगैर चैन पड़ता है। कप्तान चाचा ने सीमाओं पर युद्ध करते हुए ऐसी बहादुरी दिखाई थी कि गोली लगने के बावजूद वे अपनी जगह से हिले तक नहीं। उनकी इसी बहादुरी के कारण उन्हें मैडल मिला। आज भी देशभक्ति का जज्बा उनमें कम नहीं है और सैनिक अनुशासन की लड़ाई तो ऐसी है कि चाल के लोग थोड़ा-थोड़ा उनसे डरते हैं, पर प्यार भी करते हैं। *बोस्की के कप्तान चाचा* पढ़ते समय बार-बार मन में आता है कि ऐसे कप्तान चाचा तो सबको मिलें।

क्षमा शर्मा का *शिब्बू पहलवान* (1992) भी खासा दिलचस्प उपन्यास है, जिसके नायक हैं शिब्बू पहलवान। लेकिन शिब्बू पहलवान सिर्फ पहलवान ही नहीं, वे और भी बहुत कुछ हैं। दिल के वे कोमल इतने हैं कि किसी का भी दुख-दर्द देख नहीं पाते और उसकी मदद के लिए जी-जान से जुट जाते हैं। उपन्यास का अंत खासा रोमांचक है।

मनोहर वर्मा भी हिंदी के जाने-माने बाल उपन्यासकार हैं जिन्होंने बच्चों के लिए कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक सभी कुछ लिखा है और बहुत कुछ लीक तोड़ने का काम किया। उनका बाल उपन्यास *लोहासिंह* बच्चों में खासा लोकप्रिय हुआ है। *लोहा सिंह* ऐसा मजेदार उपन्यास है जिसे बच्चे एक बार पढ़ना शुरू करें तो उपन्यास पूरा किए बगैर छोड़ेंगे नहीं।

अच्छे जासूसी बाल उपन्यास वही कहे जा सकते हैं, जो इस जो इस खोज की उत्तेजना में एक बड़ा लक्ष्य या एक बड़े उद्देश्य को पाने का आनंद भी जोड़ देते हैं। इस लिहाज से शांति भटनागर का *नन्हे जासूस*, इकबाल बहादुर सिंह का *पांच हीरे*, राजेश कुमार जैन का *नकली चांद*, अशोक शर्मा का *हीरों की चोरी*, राजकुमार अनिल का *पुराने किले का रहस्य*, अवतार सिंह का *खोखला सिक्का* तथा रत्नप्रकाश शील का *चतुर चोर* हिंदी के कुछ अच्छे जासूसी बाल उपन्यास कहे जा सकते हैं। इनमें अवतार सिंह का *खोखला सिक्का* और राजेश जैन का *नकली चांद* काफी ताजगी लिए, अलग ढंग के बाल उपन्यास हैं, जिनसे हिंदी बाल उपन्यासों के बदले हुए रंग-ढंग के साथ-साथ उसकी रचनात्मक ऊर्जा का भी पता चलत है। *खोखला सिक्का* में बच्चे खेल-खेल में देश के दुश्मनों को पकड़वाने में कामयाब होते हैं। यह किस्सा बड़े स्वाभाविक ढंग से घटित होता है।

राजेश जैन का *नकली चांद* भी एक बढ़िया जासूसी बाल उपन्यास है, जिसमें चांद का प्रतीकार्थ है-गंजा सिर। असल में यह पूरा उपन्यास इसी *नकली चांद* या गंजे सिर के इर्द-गिर्द घूमता है।

बच्चों के समर्थ लेखक रत्नप्रकाश शील ने भी कई मौलिक अंदाज के जासूसी बाल उपन्यास लिखे हैं। इनमें *फुटबाल की वापसी* तथा *नीली डायरी* खासकर बहुत मशहूर हुए हैं। *फुटबाल की वापसी* बड़ा खिलंदड़ा बाल उपन्यास है, जिसका कुल मिलाकर किस्सा यह है कि एक बच्चे को उसके पापा जन्मदिन के उपहार के रूप में फुटबाल देते हैं। अपने साथियों के साथ वह फुटबाल खेल रहा होता है कि एक जोर की किक के साथ वह फुटबाल गायब हो जाती है। फुटपाथ पर सामान बेचने वाली एक औरत बताती है कि 'एक सूखचिड़ी-सा लड़का' उसे ले गया है। पूरे उपन्यास में इस लड़के की तलाश चलती है, तो नए-नए मजेदार दृश्य सामने आते हैं।

हिंदी के जासूसी बाल उपन्यासों में शकुन्तला वर्मा के *पांच जासूस* का भी जिक्र किया जाना चाहिए। बच्चों की रचनात्मक ऊर्जा का जितना बढ़िया और मजेदार इस्तेमाल इस जासूसी बाल उपन्यास में हुआ है, वैसा अक्सर कम ही नजर आता है।

यहीं यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' के उपन्यास *चतुर चौकड़ी* की चर्चा की जा सकता है, जो पराग में धारावाहिक रूप में छपा था। *चतुर चौकड़ी* में भी ऐसे ही बुद्धिमान और सतर्क बच्चे हैं, पर यहां वे पांच नहीं, चार हैं और यह चतुर चौकड़ी हरिद्वार में जाकर एक ऐसे अपराधी को पकड़वाती है, जिसने वहां के लोगों, खासकर यात्रियों का जीना हराम कर दिया है। वहां सभी लोग ऐसे रहस्मय चोर से परेशान थे, जो न जाने कहां से आता था और यात्रियों को क्लोरोफार्म सुंघाकर कीमती गहने उठाकर ले जाता था। दिल्ली से आई बच्चों की चतुर चौकड़ी हैरान-परेशान पुलिस की मदद करने में जुट जाती है। उसी ने पहले पहल पता लगाया था कि यह चोर कोई और नहीं, बल्कि एक सधाया हुआ बंदर है, जिसके जरिए बार-बार नाम, वेश बदल लेने वाला दीना नाथ नाम का आदमी तीर्थयात्रियों को लूटता था। इस अपराधी को पकड़वाने में बच्चों ने निडरता और साहस ही नहीं, ऐसी सूझ-बूझ और दिमागी चौकन्नेपन का भी परिचय दिया है कि उपन्यास को पढ़ने के बाद इस समझदार चतुर चौकड़ी को भूल पाना किसी भी बच्चे के लिए मुश्किल है।

देवेन्द्र कुमार और हरिकृष्ण देवसरे ने भी बच्चों के लिए कुछ अच्छे जासूसी उपन्यास लिखे हैं। देवेन्द्र कुमार का एक अच्छा उपन्यास *हीरों के व्यापारी* (1973) इंद्रदेव के कल्पित नाम से छपा है। इस उपन्यास की खासियत यह है कि दो साहसी और निर्भीक बच्चे राजेश और सुरेन्द्र ही अपराधियों का पता लगाते हैं और फिर उन्हें जेल की हवा खाने पर मजबूर कर देते हैं।

हरिकृष्ण देवसरे का *बहादुर भालू* एक बहादुर कुत्ते को लेकर लिखा गया बड़ा ही रोमांचक जासूसी उपन्यास है। इस उपन्यास में कुत्ते की बहादुरी और खोजी कारनामे तो हैं ही, साथ ही कुत्तों को कैसे प्रशिक्षित किया जाता है और प्रशिक्षित कुत्ते कैसे-कैसे बहादुरी के काम कर दिखाते हैं, इस बारे में भी काफी अच्छी जानकारी दी गई है, जो बच्चों का खासा मनोरंजन करती है।

दूसरे ग्रहों के गुप्तचर भी हरिकृष्ण देवसरे का बेहतरीन जासूसी बाल उपन्यास है, जिसमें विज्ञान फंतासी की मदद ली गई है। बरसों पहले यह उपन्यास *होटल का रहस्य* नाम से छपा था। शकुन प्रकाशन ने अब उसी को दुबारा *दूसरे ग्रहों के गुप्तचर* नाम से छापा है।

हिंदी में साहसिक कथानकों वाले ऐसे रोमांचक बाल उपन्यास अधिक नहीं हैं। तो भी विमला शर्मा का *एक था छोटा सिपाही*, स्वदेशकुमार का *हाथियों के घर में*, रामकुमार 'भ्रमर' का *डाकुओं के बीच* और अलका सक्सेना का *गजमुक्ता*

की तलाश ऐसे उम्दा रोचक बाल उपन्यास हैं, जो गौर करने लायक हैं और बार-बार ध्यान खींचते हैं।

डाकुओं के बीच एक रोमांचक बाल उपन्यास है। जैसा कि नाम से ही जाहिर है, इसमें डाकुओं के जीवन का भीतरी संसार खुलकर सामने आता है। पर इसे रामकुमार भ्रमर ने इस ढंग से सामने रखा है कि बच्चे भी बगैर डरे, इसमें खासा रस ले सकेंगे।

बच्चों का पशु पक्षियों से स्वाभाविक लगाव होता है। इसलिए ऐसे उपन्यास जो पशु-पक्षियों के चरित्र को केंद्र में रखकर लिखे जाते हैं या उनकी दुनिया के अंदर दूर तक झांकने की कोशिश करते हैं, बच्चों को खासकर रिझाते हैं। बच्चे बहुत रस ले-लेकर ऐसे उपन्यासों को पढ़ते हैं और उन्हें देर तक याद भी रखते हैं। बल्लभ डोभाल का *उस्ताद भूरेलाल*, क्षमा शर्मा का *मिट्टू का घर*, क्षितिज शर्मा का *भवानी के गांव का बाघ* तथा *पामू का घर*, हरिकृष्ण देवसरे का *सुरखाब के पर*, अमर गोस्वामी का *शाबाश मुन्नू*, दिनेश पाठक *शशि* का किट्टी और विनायक का *नदिया और जंगल* ऐसे ही बाल उपन्यास हैं। इनमें *उस्ताद भूरेलाल* असल में एक चूहे का नाम है जिसके इर्द-गिर्द पूरा उपन्यास घूमता है। *मिट्टू का घर* एक तोते को प्यार से पालने की कहानी है।

विनायक के *नदिया और जंगल* में एक बाघ के दांपत्य और पारिवारिकता का दुर्लभ चित्र है तो अमर गोस्वामी के *शाबाश मुन्नू* में एक विलक्षण चूहे की लंबी रपटीली कथा है जो लोक कथाओं के-से रस के साथ आगे बढ़ती है और उसमें एक के बाद एक नए कथानक गुंफित होते चले जाते हैं। हरिकृष्ण देवसरे के बाल उपन्यास *सुरखाब के पर* के केंद्र में वह सुरखाब पक्षी है, जिसकी सुंदरता के कई अनमोल नजारे देवसरे यहां उपस्थित करते हैं।

पशु-पक्षियों की दुनिया के इर्द-गिर्द रचे गए बाल उपन्यासों में क्षितिज शर्मा का *भवानी के गांव का बाघ* भी अपने ढंग का अनूठा और बांध लेने वाला उपन्यास है। पहाड़ पर बचपन किस तरह बीतता है, उसका आनंद-रोमांच और भय किस तरह के हैं, उपन्यास में इसका इतना सहज और अंतरंग चित्र मिलता है कि उसे भूल पाना मुश्किल है। क्षितिज शर्मा ने पहाड़ के ग्राम्य जीवन की कई अनूठी और मनोहारी छवियां उपस्थित करने के साथ-साथ बड़ी बारीकी से इस ओर इशारा भी किया है कि पहाड़ पर बच्चे बाघ के आने के आतंक की छाया में बड़े होते हैं। कहीं बाघ न आ जाए, बड़ों से बार-बार सुनी गई यह बात बच्चों के मन में बाघ के प्रति भय के साथ-साथ एक खास तरह का रोमांच भी पैदा करती है। क्षितिज शर्मा का *पामू का घर* (1997) भी एक हिरन के बच्चे पामू के नटखटपन पर लिखा गया बड़ा मोहक और पठनीय उपन्यास है।

बच्चों के जाने-माने लेखक चंद्रदत्त 'इंदु' का *रामगंगा का शेर* भी एक याद रह जाने वाला उपन्यास है। इस बाल उपन्यास में राम गंगा के जंगल में वास करने वाले शेर परिवार, उसकी राजसी अदाओं और आदतों का ऐसा लुभावना चित्रण है, जैसा बहुत कम देखने को मिलता है।

हरिकृष्ण देवसरे के बाल उपन्यास *सुरखाब के पर* में भी पक्षियों के सुंदर रंगारंग संसार और उसके प्रति आदमी के संवेदन शील रवैये का बखान है। हालांकि यहां कथा कुछ भिन्न तरह की है, जिसमें लोककथा का-सा रंग और रसात्मकता उभर आई है। उपन्यास के कथानायक परवाज कर चरित्र खूब उभरा है, जो एक बादशाह का बेटा होते हुए भी परिंदे बेचने का काम करता है और अपने प्यार तथा भोलेपन से सभी का मन मोह लेता है।

हिंदी के बाल उपन्यासों की एक धारा ऐसी भी है जो परंपरागत उपन्यासों की बंधी बंधाई लीक से हटकर, कुछ नए ढंग से बात कहने में यकीन करती है। ये उपन्यास खासकर आज के समय के बच्चे, उसके मन, सुख-दुख उसकी मुश्किलों और जिज्ञासा- संसार को समझने की कोशिश करते हैं। जाहिर है, इसके लिए नए ढंग के पात्रों की ही नहीं, नए शिल्प और भाषा की भी दरकार है, जिसमें एक किस्म की प्रयोगात्मकता और लीक तोड़कर अपने ढंग से अपनी बात कहने की जिद भी शामिल है।

हिंदी में नए ढंग के बाल उपन्यासों का संसार रचने वाले उपन्यासों में कुछ खास हैं- पंकज बिष्ट का *भोलू और गोलू*, हिमांशु जोशी का *तीन तारे*, रमेश थानवी का *घड़ियों की हड़ताल* तथा इरा सक्सेना का *कंप्यूटर के जाल में*।

पंकज बिष्ट के बाल उपन्यास *भोलू और गोलू* में सर्कस में काम करने वाले एक भालू के बच्चे भोलू और महावत के बच्चे गोलू की दोस्ती है। बड़ी ही प्यारी दोस्ती, जिससे दोनों को ही बड़ी खुशी मिलती है। खासकर भोलू तो गोलू से दोस्ती से पहले एकदम उदास और अनमना रहता है। इतना कि गोलू तो उसे देखकर उलटे खीज गया और उसे सबक सिखाने पर उतारू हो गया। पर आखिर भोलू के दिल के प्यार को पहचाना और फिर तो उसके जीवन में एक नया उत्साह और उमंग भर जाती है। सर्कस में अपनी बारी आने पर ऐसे-ऐसे कमाल के खेल वह दिखाता है कि क्या कहें। अंत में यह गोलू की कोशिशों का ही नतीजा है कि भोलू सर्कस से छूटकर जंगल में जा पहुंचता है। उस जंगल में जो सचमुच अपना और बड़ा घर है। वहां चिड़िया, पेड़ों और हवा से उसकी दोस्ती हो जाती है और अब अंदाजा लगाया जा सकता है कि अपने घर में आ जाने पर अपनी मस्ती से जीते हुए भोलू की उमंगों और ठाठ के क्या कहने।

हिमांशु जोशी का *तीन तारे* बाल उपन्यास भी खासी तन्मयता से लिखा गया है। उसमें भी तीन दोस्तों की कथा है। इनमें एक नटखट बच्चा है टिंकू और दो उसके प्यारे-प्यारे दोस्त हैं-गब्बू और नब्बू। चौंकिए नहीं, ये गब्बू और नब्बू गधे के बच्चे हैं पर इतने प्यारे और मासूम कि उन पर सचमुच बड़ा प्यार आता है। तीनों एक अजीब-सी यात्रा पर चल पड़ते हैं, जिसमें कई तरह के कमाल के काम होते हैं।

वरिष्ठ कथाकार द्रोणवीर कोहली का बाल उपन्यास *डाक बाबू का पार्सल* 1994 अपनी जड़ों से उखड़ने की पीड़ा का बयान करता है। यह दर्द मनुष्य ही नहीं, एक मामूली पत्थर भी महसूस करता है। शुरू में डाक बाबू को पार्सल में जब एक पत्थर मिला, तो औरों की तरह उन्होंने भी इसे किसी की शरारत समझा। पर फिर पत्थर को वे सही जगह पर रख आए और एक बच्चे की चिट्ठी ने इस राज को खोल दिया कि सचमुच पत्थर भी रोते हैं, जब उन्हें अपने घर से उजाड़ दिया जाए। यह सचमुच अपने ढंग का नायाब उपन्यास है।

रमेश थानवी का उपन्यास *घड़ियों की हड़ताल* सही मायने में एक प्रयोग धर्मी उपन्यास है, जिसमें हमारा समय और सच्चाइयां खुलकर सामने आती हैं। उपन्यास की कथा बहुत संक्षिप्त-सी है। पर उसे इस जिंदादिली से कहा गया है कि *घड़ियों की हड़ताल* इधर के बाल उपन्यासों में एक यादगार उपन्यास बन गया है।

हरिपाल त्यागी के उपन्यास *ननकू का पाजामा* के जिक्र के बगैर नई काट के बाल उपन्यासों की चर्चा पूरी नहीं हो सकती। हरियाल त्यागी की कथा-शैली बहुत प्रभावशाली है, जिसमें कहीं-कहीं तीखा व्यंग्य और तल्खी भी शामिल है।

पृष्ठ 38 पर जारी

सत् संतोष और विचार का ग्रंथ

***श्री गुरु ग्रंथ साहब संतवाणी का संग्रह है– चाहे वे गुरु साहबान हों, मुलतान से लेकर बंगाल तक और सिंध से लेकर महाराष्ट्र तक फैले हुए संत और सूफी हों, ब्राह्मण हों या दलित हों, सभी की रचनाओं को गुरु ग्रंथ साहब में स्थान प्राप्त हुआ, सभी समादृत हुए, सभी पूज्य हुए। पिछले दिनों पवित्र ग्रंथ श्री गुरुग्रंथ साहब की चार सौवीं जयंती पूरे देश में मनाई गई। श्री गुरु ग्रंथ साहब की विवेचना कर रहे हैं हिंदी के सुप्रसिद्ध कथाकार* महीप सिंह**

चार सौ वर्ष पूर्व सन् 1604 में जिस ग्रंथ को पांचवें गुरु- गुरु अर्जुन देव ने संपादित किया था, उस समय उसे 'पोथी' कहा गया। बाद में उसे ग्रंथ या आदि ग्रंथ कहा जाने लगा। उस समय इसमें पांच गुरुओं, देश भर में फैले हुए पंद्रह संतों तथा चौदह भाट, तथा अन्य कवियों की वाणी को सम्मिलित किया गया था। इस ग्रंथ के बनने के लगभग एक सौ वर्ष बाद दसवें गुरु गुरु गोबिंद सिंह जी ने इसमें अपने पिता गुरु तेगबहादुर जी की वाणी शामिल की। सन् 1708 में नांदेड़ (महाराष्ट्र) में अपनी जीवनलीला पूर्ण करने से पूर्व उन्होंने इस ग्रंथ को गुरु पद पर प्रतिष्ठित किया। तब से इसे 'गुरु ग्रंथ साहब' कहा जाने लगा।

आदि ग्रंथ के अंत में गुरु अर्जुन देव ने उपसंहार के रूप में एक पद मुंदावणी शीर्षक से लिखा है-

थाल विचि तिनि वसतु पइओ सत संतोख वीचारो।।
अमृत नाम ठाकरु का पइओ जिसका सभस अधारो।।
जे को खावै जे को भुंचे तिस का होई उधारो।।
एह वसतु तजी नह जाई नित नित कर उरि धारो।।
तम संसार चरन लगि तरीऐ सभु नानक ब्रह्म पसारो।।

इस पद का भावार्थ है- इस ग्रंथरूपी थाल में सत्य, संतोष और प्रभु नाम का अमृत रखा गया है, जो सभी का आधार है। जो कोई इसका सेवन करेगा और इसके विचारों को आत्मसात करेगा, उसका उद्धार होगा। इस ग्रंथ में जो वस्तु (विचार) है, उसे छोड़ा नहीं जा सकता। इसलिए इसे सदा अपने हृदय में धारण करना ही उचित है। इस ग्रंथ में दिए गए उपदेश के चरणों से मन लगाकर अज्ञान के अंधेरे से मुक्ति पाई जा सकती है। इसका मूल उपदेश यह है कि परब्रह्म की व्याप्ति सभी ओर है।

अनेक पक्षों से यह ग्रंथ अनुपम एवं अद्वितीय है। इसमें बारहवीं शती के शेख फरीद और जयदेव से लेकर सत्रहवीं शती के गुरु तेगबहादुर तक पांच शतियों में अवतरित गुरुओं, संतों, सूफियों और भाट कवियों की भक्तिपूर्ण रचनाएं संग्रहीत है। इस दृष्टि से इस ग्रंथ में पांच शताब्दियों की भारत की सांस्कृतिक, धार्मिक और साहित्यिक थाती को एक प्रतिनिधि ग्रंथ के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

आदिग्रंथ में जिन संतों की वाणियां संगृहीत हुई है, वे गुरुनानक देव के पूर्ववर्ती अथवा समकालीन थे। भारत पर महमूद गजनवी के आक्रमण और विदेशी शासन की स्थापना के लगभग पांच सौ वर्ष पश्चात पंजाब में गुरुनानक पहले ऐसे संत थे जिनकी वाणी में भारतीय जीवन की आकांक्षाओं का स्वर सुनाई दिया था। देश के अनेक भागों में भक्ति की जो धारा प्रवाहित हो रही थी, गुरुनानक ने उसका परिचय ही प्राप्त नहीं किया था, उससे तादात्म्य भी स्थापित किया था। उन्होंने सभी प्रमुख संतों-भक्तों, उनकी परंपरा, उनकी गद्दियों, रचनाओं तथा विभिन्न मतों के धर्माचार्यों से संबंध स्थापित किया था। उन्होंने अनेक बार सम्पूर्ण देश का भ्रमण किया। इस भ्रमण में वह अनेक तीर्थस्थानों पर गए। अनेक संतों-सूफियों से उनका संवाद हुआ। जयदेव, रामानंद, नामदेव, त्रिलोचन, परमानंद, कबीर, रविदास, सैण, पीपा, धन्ना आदि अनेक यंत्रों की रचनाओं का उन्होंने स्वयं संग्रह किया, जिन्हें बाद में गुरु अर्जुनदेव ने आदि ग्रंथ में संगृहीत किया।

आदिग्रंथ में रागबद्ध वाणियों के प्रारंभ होने से पहले तीन वाणियां हैं- जपु, सोदर-सो पुरखु और सोहिला। आमतौर पर इन्हें जपुजी साहब, रहिरास और कीर्तन सोहिला कहा जाता है। ये सिख श्रद्धालुओं के नित्य पाठ (नितनेम) की वाणियां हैं। इनमें जपुजी का पाठ प्रात:काल, रहिरास संध्या में और सोहिला को संतों को शयन के पूर्व पढ़ा जाता है। इन तीनों वाणियों में पहली 'जपु' गुरुनानक की रचना है। शेष दो में एक से अधिक गुरुओं के पद हैं। ये तीनों रचनाएं एक प्रकार से आदिग्रंथ का उपक्रम हैं- जो प्रारंभ के 14 पृष्ठों तक सीमित हैं।

शेष ग्रंथ लगभग रागबद्ध हैं। सभी गुरु संगीत विधा में निष्णात थे, इसलिए जबसे वाणी रची जाने लगी तथा अन्य संतों की वाणियों का संग्रह किया जाने लगा, उसके राग का निर्धारण उसी समय से प्रारंभ हो गया। गुरु ग्रंथ साहब की लगभग संपूर्ण संरचना का विभाजन विभिन्न रागों के आधार पर किया गया है। गुरुनानक ने स्वयं अपने आपको अनेक स्थानों पर 'ढाढी' (गायक) कहा है। इस ग्रंथ के विभाजन का आधार वाणी का रचनाकार नहीं हैं, वरन वह राग है जिसमें उसने वाणी की रचना की। इस ग्रंथ में 31 रागों का उपभोग हुआ है- सिरी, (श्री), माझ, गउड़ी, आसा, गूजरी, देवगंधारी, बिहागड़ा, वडहंस, सोरठ, धनासिरी, जैतसरी, टोडी, बैराड़ी, तिलंग, सूही, बिलावल, गौंड, रामकली, नटनाराइण, माली गउड़ी, मारु, तुखारी, केदारा,

भैरउ, बसंत, मलार कानड़ा, कलियाण, प्रभाती, जैजैवंती। इन रागों के साथ ही कुछ रागों के आपसी मेल से 27 और रागों का विधान किया गया है।

रागबद्ध वाणियों के पश्चात 77 पृष्ठों में रागमुक्त रचनाएं हैं।

संत कबीर ने अपनी एक साखी में लिखा है कि संतों का लक्षण उनका निवैर तथा निष्काम होना है, प्रभु प्रेम में निमग्न और विषयों से विरक्त होना है :

निरवैरी निहकामता साई संती नेह।
विषियों सूं न्यारा रहे संतनि को अंग एह।।

चौथे गुरु- गुरु रामदास जी ने कहा- जिसे श्वास-प्रश्वास में अपने हृदय से हरिनाम विस्मृत नहीं होता, वह धन्य है, वही पूर्ण संत है :

जिना सासि गिरासि न बीसरै हरि नामा मनि मंतु।
धंनु सि सेई नानका पूरन सोई संतु।।

विषयों से निरपेक्ष रहते हुए केवल सत्कर्म करना, हर समय हरिनाम में लिप्त रहना, किसी के प्रति बैर भाव न रखना तथा प्रत्येक कार्य नि:संग होकर निष्काम भाव से करना संतों का लक्षण है।

गुरु ग्रंथ साहब संतवाणी का संग्रह है- चाहे वे गुरु साहबान हों, मुल्तान से लेकर बंगाल तक और सिंध से लेकर महाराष्ट्र तक फैले हुए संत और सूफी हों, ब्राह्मण हों या दलित हों, सभी की रचनाओं को गुरु ग्रंथ साहब में स्थान प्राप्त हुआ, सभी समादृत हुए, सभी पूज्य हुए।

कालक्रम की दृष्टि से जयदेव और शेख फरीद बारहवीं शती के संत थे। इनमें एक बंगाल का और दूसरा पश्चिमी पंजाब (मुलतान) का था। एक के संस्कार पूरी तरह वैष्णव थे और दूसरा सूफी सिद्धांतों की पृष्ठभूमि में जन्मा-पला था। त्रिलोचन, नामदेव, सधना, वेणी तेरहवीं शती के संत थे। रामानंद, रविदास, कबीर, पीपा, सैण, धन्ना, भीखण और सूरदास ये सभी संत पंद्रहवीं शती के थे।

गुरु ग्रंथ साहब में संगृहीत वाणीकारों का आग्रह परमात्मा के निर्गुण स्वरूप की ओर है। वे अवतारवाद के समर्थक नहीं हैं। वर्ण व्यवस्था, जात-पात, ऊंच-नीच में उनका विश्वास नहीं है। वे मूर्ति पूजा का खंडन करते हैं, और सर्वत्र परमात्मा की ज्योति को प्रसारित देखते हैं। इनके द्वारा व्यक्त किया गया धार्मिक भाव सीधा-सादा, आडंबरहीन एवं व्यापक है। परंपरागत रुढ़ अवधारणाओं की उपेक्षा करते हुए उन्होंने धर्म के मूल तत्व को पहचानने और उसे स्पष्ट करने का प्रयास किया।

गुरु ग्रंथ साहब में संगृहीत सभी वाणीकार इस बात पर आग्रह करते हैं कि प्रभु भक्ति से नीच से नीच समझा जाने वाला व्यक्ति उच्चता प्राप्त करता है। संत रविदास की यह उक्ति इस विचार की पुष्टि करती है :

नीचहुं ऊंच करे मेरा गोबिंद
काहू तों न डरै।

चौथ गुरु रामदास जी तो यह लिखते हैं कि नामदेव की हरि से ऐसी प्रीति लगी कि जिसे लोग छीपा कहकर बुलाते थे, हरि ने उसे खत्री और ब्राह्मण जैसी सवर्ण जातियों को त्यागकर स्वीकार कर लिया :

नामदेव प्रीति लगी हरि संती लोकु छीपा के बुलाइ।
खत्री ब्राह्मण पिठि दे छोड़े नामदेउ लीआ मुखि लाइ।।

तीसरे गुरु, गुरु अमरदास कहते हैं कि नामदेव छीपा थे, कबीर जुलाहा थे, परंतु -गुरु की कृपा से उन्हें सद्गति प्राप्त हुई। उन्हें ब्रह्म का ज्ञान हो गया। उन्होंने शब्द की सही पहचान कर ली। उनमें अंहकार नष्ट हो गया। अब तो सुर और नर उनकी रची वाणी का गायन करते हैं। उनके महत्व को मिटाया नहीं जा सकता :

नामा छांपा कबीर जुलाहा पूरे गुरु से गति पाई।।
ब्रह्म के बेते सबदु पछाणहिं हउमै जाति गंवाई।।
सुर नर तिन की बाणी गावहि कोई न मेटे भाई।।

आदिग्रंथ के संग्रहकर्ता पंचम गुरु- गुरु अर्जुन देव ने ऐसे संतों का अनेक बार स्मरण किया है :

साध संगि नानक बुधि पाई हरि कीरतन आधारो।
नामदेव त्रिलोचन कबीर दासरो, मुकति भीई चमिआरो।।

इस ग्रंथ का निर्माण उस युग की एक विलक्षण घटना थी। आज भी इसकी अलौकिकता असंदिग्ध है। □

आजकल की विज्ञापन दरें

	एक निवेशन के लिए		चार निवेशन के लिए	
	रंगीन	श्वेत-श्याम	रंगीन	श्वेत-श्याम
पूरा पेज	8000	4000	25600	12800
आधा पेज	5000	2500	16000	8000
अंतिम आवरण	13000	7000	41600	22400
दूसरा अथवा तीसरा आवरण	11000	6000	32200	19200

तकनीकी विवरण

संपूर्ण आकार	21 सेंमी / 28 सेंमी
प्रिंट एरिया	17 सेंमी / 24 सेंमी
मुद्रण प्रक्रिया	आफसेट
अपेक्षित सामग्री	आर्टवर्क/ आर्टपुल / पाजिटिव
प्राप्ति की अंतिम तिथि	दो माह पूर्व

डिमांड ड्राफ्ट " निदेशक, प्रकाशन विभाग" को देय होना चाहिए।

विज्ञापन एजेंसियों को 15 प्रतिशत एजेंसी कमीशन दिया जाएगा।

विज्ञापन सामग्री तथा भुगतान राशि भेजने के लिए संपर्क करें:

विज्ञापन व्यवस्थापक

प्रकाशन विभाग

ईस्ट ब्लाक-4, लेवल-7,
रामकृष्णपुरम, सेक्टर-1, नई दिल्ली-110066
फोन : 26105590 फैक्स : 26175516 / 26193012

कहानी

अनचाहा

रामदेव शुक्ल

रेखांकन : दुर्गादत्त पांडे



देखिए डॉक्टर! आप भले आदमी हैं, और अच्छे डॉक्टर। मैं आपके संपर्क में एक महीने से हूं। आपने क्या कोई ऐसा लक्षण मुझमें देखा कि मैं सिजोफ्रेनिया या ऐसे किसी रोग से पीड़ित हूं?

'ओह नो...! आप ही बताइए, ऐसा मैंने कभी कुछ कहा आपसे?' डॉक्टर प्रेम ने जवाब दिया।

'तब आप मेरा किस बात का इलाज कर रहे हैं?'

'इलाज कहां कर रहा हूं? आपको कोई दवा, इंजेक्शन, कोई ट्रीटमेंट कभी दिया? जनरल टॉनिक और नींद आने में मदद करने वाली एक टेबलेट। इससे बहुत ज्यादा दवाइयां तो आजकल वे लोग खाते रहते हैं जो अपने को बिल्कुल ठीक समझते हैं।' डॉक्टर की बात पूरी होते ही दोनों हंस पड़े।

वैभव की हंसी थमी तो उन्होंने कहा, 'लेकिन इतना तो सच है न कि एक महीने से मैं आपके नर्सिंग होम में हूं और आप मेरे किसी रोग के बारे में खोज कर रहे हैं।'

'इतना तो सच है। लेकिन इसी के साथ इतना सच और भी है कि आप जैसे कैरियर वाले युवक को इस तरह नहीं रहना चाहिए।' डाक्टर ने गंभीरता के साथ कहा।

'यानी तुरंत नौकरी, शादी, बच्चों, प्रोमोशन के दुष्चक्र में जुट जाऊं? ऐसा करूं तभी नार्मल माना जाऊं?' हल्के आक्रोश के साथ वैभव ने पूछा।

'लोग तो ऐसा ही मानते हैं' इसी को सामाजिक मान्यता प्राप्त है। हर मां-बाप की इच्छा होती है कि उनका बेटा सफल जीवन बिताए।' डॉक्टर ने शांत स्वर में कहा।

'डॉक्टर साहब! मैं सफल की तुलना में सार्थक जीवन जीना चाहता हूं।' दृढ़ निश्चय के साथ वैभव ने कहा। 'और उसी सार्थकता की खोज में जब सबसे पहले अपने अस्तित्त्व पर विचार करता हूं तो जानते हैं, क्या पाता हूं!' वैभव नि:संकोच बोलते गए- 'मैं ज्यों-ज्यों समझने-बूझने लायक होता गया, कुछ सपने मुझे लगभग रोज आने लगे। उनमें सबसे ज्यादा डरावना वह सपना है, जिसमें मुझे लगता है कि मैं जन्म लेना चाहता हूं और मुझे बाहर से ठेलकर रोक दिया जा रहा है। दूसरा डरावना सपना है- मैं पाखाने-पेशाब में लिथड़ा पड़ा हूं। बार-बार निकलने की कोशिश करता हूं, बदबू से दम घुटता रहता है, मगर उस गंदगी से छूट नहीं पाता। सपने और भी आते हैं,

एक से एक डरावने, किंतु ये दोनों सपने बार-बार आते हैं। इनसे घिरकर पसीने-पसीने हो जाता हूं। जब नींद खुलती है, थोड़ी राहत मिलती है, यह जानकर कि चलो सपना ही था, खत्म हो गया। इन सपनों और अपने मां-बाप के साथ अपने संबंध को देखता हूं तो समझ में आता है कि नफरत और हिंसा से ही मेरे अस्तित्व की रचना हुई है। आप क्या चाहते हैं कि आगे भी यही क्रम चलता रहे?

'इससे अच्छी बात क्या हो सकती है कि आप जैसा जीनियस सार्थक जीवन की तलाश करे, मगर अभी हाल यह है कि एक हफ्ते से आप सोये नहीं हैं। मैं चाहता हूं, आपका खाना-सोना कुछ नार्मल हो जाय तब आगे के प्रोग्राम बनाएं।'

बाहर कुछ आहट हुई। डॉक्टर प्रेम बाहर गए और तुरंत एक वृद्ध को साथ लेकर लौट आए।

अस्सी वर्षीय वृद्ध की आंखें झरने लगीं। डॉक्टर प्रेम परेशान हो गए। उन्होंने अपने पिता की उम्र से बड़े बुजुर्ग के आंसू पोंछ डाले। उनके दोनों हाथों को अपनी हथेलियों के बीच दबाकर उन्हें सहलाते रहे। वृद्ध की रुलाई रुकी। उन्होंने डॉक्टर की आंखों में सीधे देखकर पूछा, 'बताओ डॉक्टर! क्या हुआ है मेरे पोते को? बच्चे को बचा लोगे न?'

डॉक्टर प्रेम अपने नाम को सार्थक करते हैं मरीजों के साथ। जो उनको दिखाकर जाता है, वही कहता है कि आधी बीमारी तो इस डॉक्टर से बात करते ही ठीक हो जाती है। डॉक्टर से जब उनकी इस खूबी की तारीफ़ की जाती है तो वह कहते हैं, 'इसमें कोई खास बात नहीं। मैंने मां-बाप, दादा-दादी, नाना-नानी किसी के प्रेम का स्पर्श कभी नहीं पाया। अनाथालय में पला-बढ़ा। उपन्यासों और कहानियों में पढ़कर जाना कि मां का प्यार ऐसा होता है, पिता का प्यार वैसा। नाना-नानी बच्चों को बहुत प्यार करते हैं। दादा-दादी तो बच्चों को जान से भी ज्यादा चाहते हैं।' यह सब मेरे लिए सपने की बातें हैं।'

यह सब कहते हुए डॉक्टर प्रेम अचानक कहीं खो जाते हैं। आंखें सामने देखती हुई भी कहीं नहीं देखती, कुछ नहीं देखतीं। कुछ पल बाद लौटकर सामने वाले को बताते हैं- 'मैं डॉक्टर क्यों बना, बताऊं? सोचता था कि डॉक्टर बन जाऊंगा तो सब लोग मेरे पास आएंगे। उनको अच्छा कर दूंगा तो प्यार करेंगे मुझसे। बूढ़ों में कोई मेरा दादा निकल आएगा, कोई नाना।'

'अच्छा, आप बताइए, मेरे दादा हैं या मेरे नाना?' इतनी मासूमियत के साथ डॉक्टर ने पूछा कि पलभर पहले हिचकियां ले-लेकर रोने वाले वृद्ध सुदर्शन जी हंस पड़े। डॉक्टर प्रेम ने उनसे कहा- 'आप अपने पोते को देख रहे हैं? कितनी गहरी नींद में सो गया? एक हफ्ते से बिल्कुल नहीं सो रहा था। आपने इनका माथा सहलाया, तभी इनके चेहरे का भाव बदल गया। आपके स्पर्श में कोई जादू है क्या?'

'क्यों नहीं सो पा रहा था? कुछ कारण समझ में आता है डॉक्टर?' सुदर्शन जी व्यग्र हो गए। बोले, 'कारण पता चल जाए तो कुछ उपाय करूं।'

डॉक्टर प्रेम गंभीर हो गए। अनायास उनके मुंह से निकल पड़ा- 'दादा जी!' तुरंत झेंपकर चुप हो गए। सुदर्शन जी ने उनके असमंजस को समझ लिया, तुरंत बोल पड़े, हां बेटा! तुमने तो खुद ही पक्का कर लिया कि मैं तुम्हारा दादा ही हूं। बोलो! और हां, आगे से मैं भी तुम्हें न डॉक्टर कहूंगा, न आप। तुम प्रेम हुए। मैं हुआ तुम्हारा दादा। अब बताओ इस नौजवान को किस बात की इतनी बेचैनी है कि ये सो नहीं पा रहा है।'

दादा को इस तरह पा लेने की खुशी डॉक्टर प्रेम की आंखों में चमकने लगी। कोई और समय होता तो बच्चा बनकर दादा जी के साथ खेलने लग जाते, पर बीस-बाईस वर्ष के युवक के रोग की पहचान कर रहे हैं, उस गंभीरता ने उन्हें चिंतित बनाए रखा। कुछ देर सोचने के बाद उन्होंने याद करते हुए कहा- 'दादा जी! पहली बात तो यह कि आजकल कौन-सा नौजवान परेशान नहीं हैं? सबकी अपनी-अपनी परेशानियां हैं। किसी को रोजगार की परेशानी है, किसी को प्रेम-प्यार की। कोई अपने मां-बाप से परेशान है, कोई...।'

'ठहरो बेटा।' सुदर्शन जी ने डॉक्टर को बीच में ही रोक दिया। डॉक्टर कुछ समझ न सके। चुप ही रहे। सुदर्शन जी ने कुछ धीमी आवाज में कहा- 'तुम इसके मां-बाप से मिले हो?'

'मां से तो कभी नहीं मिला। इनके पापा इन्हें लेकर यहां आए थे। इनके कुछ मेडिकल टेस्ट रिपोर्ट और प्रेस्क्रिप्शंस दे गए। कह गए कि फिक्र न करें। बस, बच्चे को ठीक कर दें। उन्होंने दस हजार रुपये एडवांस जमा कर दिए और चले गए। रोज एक बार फोन करके पूछते हैं कि कैसा चल रहा है? कल जब मैंने उन्हें बताया कि कई दिन से वे जाग रहे हैं और कभी-कभी कुछ बहकने लगते हैं तो उन्होंने बताया कि मेरे पिता जी गांव से आ रहे हैं। उनको बहुत मानता है। वह पोते को बहुत प्यार करते हैं। उनके आने का असर जरूर होगा।'

डॉक्टर चुप हो गए यह देखकर कि सुदर्शन जी की आंखें फिर उमड़ पड़ीं। डॉक्टर ने इतने वृद्ध को कभी इस तरह बिलख कर रोते न देखा हो, यह बात नहीं मगर दर्द से छटपटाते हुए का बिलखना, चीखना या फूट-फूटकर रोना कुछ और होता है। इन वृद्ध का इस तरह आंसू बहाना कुछ और तरह का है, खासतौर से तब, जब इनको कोई शारीरिक कष्ट नहीं है। मन ही मन डॉक्टर प्रेम अपनी भूल सुधारने लगे, सबसे ज्यादा रुलाने वाली तो मन की पीड़ा ही होती है, उसका इलाज किसी डॉक्टर के पास नहीं। अपने को मन की अगम, अतल गहराई वाली दुनिया से खींचकर बाहर ले आने के बाद डॉक्टर ने कहा, 'वैभव अपने मम्मी-पापा के साथ नहीं रहते, यह आपको मालूम है दादा जी?'

'बेटा! वह तो कभी नहीं रहा। कह सकते हो कि उन दोनों ने कभी इसे अपने पास रहने ही नहीं दिया।' सुदर्शन जी इतनी बात कहकर चुप हो गए, जैसे थककर पस्त हो गए हों। डॉक्टर को लगा, दादा जी से बात करके अपने रोगी के मन की गांठें खोलने में उन्हें सफलता मिलेगी। आगे सुनने की उत्सुकता आंखों में भरकर डॉक्टर प्रेम ने वैभव (और अब अपने भी) दादा जी की ओर देखा।'

'जब यह बच्चा सात महीने का था तो गांव से मैं इसे देखने आया था।' पूरे चौबीस घंटे रेल का सफर करके पहुंचा था। साथ में तुम्हारी दादी भी थी। उन्होंने चाहा था कि बच्चे की पैदाइश गांव में हो, मगर मेरे बेटे, बहू को गांव जहर लगता था। दोनों ने साफ मना कर दिया। हम लोग भी शहर के बड़े अस्पतालों और बड़े डाक्टरों की बात सुनकर चुप हो गए, पोता हुआ है सुनकर जो खुशी हुई तो जश्न गांव में मनाते हुए हम दोनों चिट्ठी पर चिट्ठी लिखते रहे कि दो-चार दिन के लिए बच्चे को लेकर चले आओ। कई बार तार दिया। उन दिनों आज की तरह फोन की सुविधा नहीं थी। चिट्ठी और तार से ही अपनी बात कह सकते थे। सात महीने बीतने पर भी जब हम लोगों की बात नहीं सुनी गई तो मन मारकर पोते का मुंह देखने शहर आए। जानते हो क्या हुआ?' प्रश्न

करके झटके से सुदर्शन जी रुक गए।

'क्या हुआ?' डॉक्टर ने तुरंत पूछा। जैसे कहानी सुनते बच्चे कहानी के किसी नए मोड़ पर चौंककर पूछते हैं, 'तब क्या हुआ?'

आगे की घटना बताने से पहले वृद्ध का चेहरा तमतमा गया। कुछ देर वह बीस-इक्कीस साल पहले से पक रहे गुस्से से बाहर आने की कोशिश करते रहे। संभलने में वक्त लगा। फिर बताया कि जब वे लोग शहर पहुंचे तो पता चला कि उनका पोता तो वहां है ही नहीं। 'कहां है?' पूछने पर जवाब मिला कि वह तो चार महीने का था, तब से अपनी नानी के पास रहता है। बुढ़िया तो बिफर उठी। पूछा, 'वहां दूध किसका पीता है? और तू कैसी मां है? इतने छोटे बच्चे को कलेजे से चिपका कर रखे बिना तुझे नींद कैसे आती है?' सास की कड़ी बात का जवाब न देना पड़े इसलिए बहू उठकर यह कहती हुई बाथरूम चली गई कि मुझे ऑफिस पहुंचने में देर हो जाएगी। हमारा बेटा उससे बड़ा अफसर ठहरा। उसे भी ऑफिस जाने की जल्दी थी, मगर वह रुककर हम दोनों को यह समझाता रहा कि बच्चे को मां-बाप से अलग करना वह भी नहीं चाहता था। लेकिन उसके चाहने से क्या होता? पालना तो मां को ही था और वह न उसे अपना दूध पिलाना चाहती थी, न रात में जाग-जागकर उसके गीले कपड़े बदलने को तैयार थी। उसने अपनी मां से बात की। उन्होंने भी समझाने की कोशिश की- 'इतना छोटा बच्चा सबसे ज्यादा मां की गोद में ही सुखी रह सकता है। कम से कम साल भर पाल लो, उसके बाद कहोगी तो मैं इसे अपने पास ले जाऊंगी।' वह अपनी मां की बात भी नहीं मानी। रोने-धोने लगी तो मां को ले जाना पड़ा।

सुदर्शन जी की सांस फूलने लगी। डॉक्टर प्रेम देख पा रहे थे कि बच्चे के साथ हुए अन्याय की बात करते-करते उनका क्रोध बार-बार फुफकार उठता था। सामने बैठे वृद्ध की तकलीफ भी वे समझ पा रहे थे। साथ ही यह भी समझ रहे थे कि वैभव के बचपन की बातें विस्तार से जान-बूझकर ही उसका सही निदान और उपचार कर पाएंगे। उन्होंने कोमलता के साथ पूछा- 'तब क्या हुआ दादा जी?' संबोधन से खिल उठे सुदर्शन जी ने बताया कि उसी दिन हम दोनों लौट आए। ऐसे बेटे-बहू के पास रहना पाप जैसा लगा। घर लौट आने के बाद से ही वृद्धा की भूख कम होने लगी। रात-दिन मां से अलग कर दिए गए पोते के बारे में ही सोचती और कलपती रहती। फिर यह प्रोग्राम बनाया गया कि बच्चे को देखने के लिए उसके ननिहाल ही चले चलते हैं। एक दिन हम दोनों वहां पहुंच गए। समधी-समधिन को आश्चर्य हुआ, खुशी भी हुई। हम लोग बच्चे को देखने इतनी दूर से चलकर आए। बच्चा झूले में पड़ा हुआ था और लगातार रोए जा रहा था। उसकी नानी बूढ़ी और कमजोर। घर में उनके पति उनसे भी बूढ़े। उनके बेटे-बेटी अपनी-अपनी गृहस्थी अलग शहरों में जमाए हुए। कभी-कभार आकर देख लेने या चिट्ठी-पत्री से हाल-चाल ले लेने से ज्यादा कोई संबंध नहीं।

सुदर्शन जी ठहरे। अपने आप उन्होंने कहा, 'ठीक वैसे ही जैसे हमारे साहबजादे हमारी खबर लेते हैं। अब जमाना ही यही हो गया है तो कोई क्या कर सकता है?' वे बेचारे बूढ़ा-बूढ़ी इतने छोटे बच्चे को अकेले अपने दम पर पाल रहे थे, यही बहुत था। डॉक्टर प्रेम व्यग्र हो उठे। कथारस से अधिक उनको अपने मनोरोगी के अतीत में झांकने का मौका मिल रहा था। उन्होंने पूछ लिया- 'दादा जी! बच्चा लगातार रोता क्यों जा रहा था?'

वृद्ध सुदर्शन जी फिर भावुक हो गए। उन्होंने बताया, 'जब किसी तरह पुचकारने, गोद में लेने, हिलाने-डुलाने, मुंह में दूध की बोतल लगाने से बच्चे का रोना नहीं रुका तो तुम्हारी दादी ने उसकी कमर पर लिपटे मोटे प्लास्टिक को देखा। वह कमर में और दोनों जांघों में इस तरह कसकर फिट था कि कहीं से हवा तक अंदर बाहर नहीं आ-जा सकती थी। गर्मियों के दिन थे। उसकी नानी से पूछा- 'यह क्या है? और क्यों बांधा गया है?' बच्चे की नानी ने बताया कि बच्चा बार-बार पेशाब-पखाना करता रहता है। मैं अकेली बूढ़ी औरत ठहरी। दिनभर कहां तक धोती रहूं। इसलिए बांध दिया है। एकबार सवेरे खोलकर साफ कर देती हूं और दूसरा बांध देती हूं। एक बार शाम को बांध देती हूं। तुम्हारी दादी ने तुरंत बच्चे के इर्द-गिर्द लिपटा प्लास्टिक नोंचकर फेंका, उसके नीचे रूई जैसा कुछ था, बच्चे के टट्टी पेशाब से चिपटा हुआ। उसे एक ओर फेंककर तुम्हारी दादी ने बच्चे को नहलाया। उसे पोंछकर ज्यों उन्होंने अपने कंधे पर रक्खा, बच्चा सो गया और घंटों सोता रहा।

तुम्हारी दादी रोती जाती थी और अपने भाग्य को कोसती जाती थी। वृद्धा रिश्ते में समधिन ठहरी। उनसे उनकी या उनकी बेटी की शिकायत किस तरह करती? समधिन सब कुछ समझ रही थीं। और बार-बार अपने बुढ़ापे को कोस रही थीं। साथ-साथ यह भी कहती जाती कि मेरी बेटी पागल है, जो इतने छोटे बच्चे को अपने से अलग रख रही है। बिलख कर उन्होंने कहा, 'मैं अपनी कोखजायी औलाद से हार गई हूं।' एकबार तो उन्होंने यह भी कह दिया कि हमारा जमाई भी तो वैसा ही है। नहीं तो बीबी की इस तरह गुलामी क्यों करता? वह भी नहीं चाहता था कि बच्चे को मां से अलग किया जाए, मगर मेरी बेटी के आगे वह बोल कहां पाता है!' अपने बेटे के बारे में ऐसा सुनकर मां-बाप को कैसा लगा होगा, यह सोच सकते हो।' कहकर सुदर्शन जी दर्दभरी मुस्कान में बदल गए।

डॉक्टर प्रेम ने उत्सुकता जताई- 'फिर क्या हुआ दादा जी? क्या आप लोग बच्चे को साथ ले आए?' सुदर्शन जी आहत स्वर में बोले, 'ले जाना चाहते थे। एक महीने तक वहीं रह गए। इस बीच तार देकर बेटे-बहू से पूछा गया कि बच्चे को लेकर गांव जाना चाहते हैं, क्या करें!' उधर से कोई जवाब नहीं आया। अपने मन में भी डरने लगे कि शहरी हवा में जन्मा बच्चा गांव में पता नहीं कैसे रहे! कुछ हो जाए और गांव-कस्बे के डाक्टर न संभाल पाएं तो हम कौन-सा मुंह दिखाएंगे। कुछ समझ नहीं पा रहे थे कि एक दिन बातचीत में एक उपाय सूझ गया। मैं अपने समधी से कह रहा था कि कोई दाई मिल जाती जो बच्चे को संभालती। जवाब में उन्होंने दाई की तनख्वाह की समस्या बताई। तुरंत मैंने कहा कि दाई की व्यवस्था कीजिए उसकी तनख्वाह मैं हर महीने मनीआर्डर से भेज दिया करूंगा। कुछ संकोच के साथ वे लोग तैयार हो गए। दाई आई और तनखाह पक्की हुई। मैंने एक महीने का एडवांस दिया और कह दिया कि हर महीने भेजता रहूंगा। मेरी पत्नी ने दाई के सामने एक शर्त रखी कि बच्चे का टट्टी-पेशाब तुरंत धोना होगा। उसकी कमर में प्लास्टिक नहीं चढ़ेगा। वह मान गई। हम लोग लौट आए। तब से दो साल तक पैसे भेजते रहे।

बच्चा दाई के हाथ पलता रहा। कभी-कभी चिट्ठी के साथ लिफाफे में उसकी फोटो आ जाती।

इस बीच बेटे ने मेरे पास आने या चिट्ठी लिखने की कभी जरूरत नहीं समझी। एक दिन

समधी जी की चिट्ठी मिली कि दाई के लिए पैसे न भेजें। बच्चे को उसके मां-बाप अपने पास ले गए हैं। हम लोग मन ही मन सोचते रहते कि अब वह ढाई साल का हो गया, अब तीन का हो गया और कल्पना करते रहते कि ऐसे बोलता होगा, वैसे चलता होगा। देखने को आंखें तरस रही थीं।

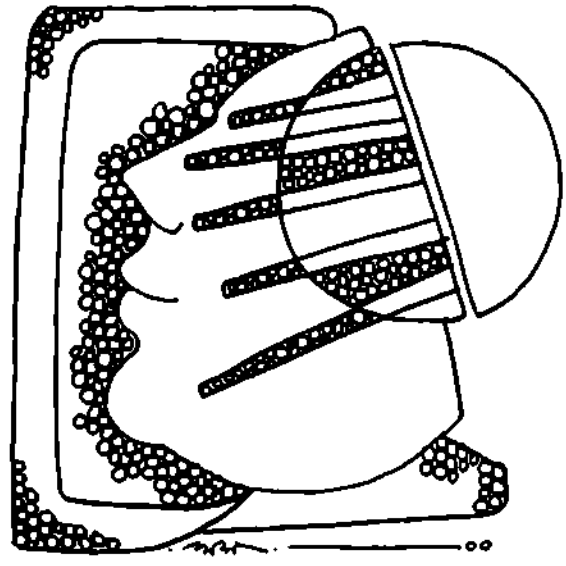
अपने बेटे-बहू के पास जाने की हिम्मत नहीं होती थी। समधी जी को चिट्ठी लिखकर पूछा कि बच्चा कैसा है और कहां है, तो जवाब मिलता कि दिनभर बच्चों को सम्हालने और खेल सिखाने वाली किसी दुकान में रहता है। उस दुकान को क्रेच कहा जाता है। मेरे बेटे-बहू की तरह काम पर जाने वाले साहब, मेम लोग अपने बच्चों को दिनभर वहीं छोड़कर आते हैं। इसके लिए मोटी रकम देनी पड़ती है।

धीरे-धीरे हम लोग बच्चे के आकर्षण से छूटते गए। अनुभव इसी को तो कहा जाता है कि जिस अभाव या दुख का इलाज न हो, उसे सहन करते हुए जीने की आदत डाल ली जाए। बाद में पता चला कि बच्चे को ऐसे स्कूल में डाल दिया गया है, जो बोर्डिंग स्कूल कहलाता है। बच्चे की देखभाल से लेकर उसके खाने-पहनने, दवा-पानी, खेल-कूद और पढ़ाई-लिखाई सबके लिए पैसे भरने होते हैं। ऐसे स्कूलों में वे ही लोग अपने बच्चों को भेज पाते हैं, जिनके पास बहुत पैसे होते हैं।' गहरी सांस छोड़ते हुए सुदर्शन जी चुप हो गए।

'एक बात और है दादा जी!' डॉक्टर प्रेम ने वैसी ही गहरी सांस छोड़कर भारी गले में कहा, 'मैं समझता था कि मैं ही अभागा हूं जिसने कभी मां-बाप का स्पर्श नहीं पहचाना। अब समझ पा रहा हूं कि आपके पोते वैभव की तरह बहुत से बच्चे ऐसे होते हैं, जिनके मां-बाप के पास धन तो होता है लेकिन वह प्यार नहीं होता जो वे बच्चे को दे पाते! उनके भाग्य में प्यार का वह अमृत भी नहीं होता, जो बच्चों से मां-बाप को मिलता है।' डॉक्टर चुप हो गए। वृद्ध सुदर्शन जी पहले से ही चुप थे। कुछ देर वैसे ही शब्दहीन बैठे रहे। दोनों के भीतर अपने-अपने भोगे हुए अनेक दुखों का हाहाकार मचल रहा था। दोनों अपने-अपने अनुभव के आलोक में वैभव के मन को समझने की कोशिश कर रहे थे।

वैभव इतनी गहरी नींद सोने के बाद स्वस्थ और तरोताजा हो गए। डॉक्टर बोले, 'आज आपको बहुत अच्छी नींद आई?' 'हां डॉक्टर साहब। याद नहीं, कब से इतनी अच्छी तरह नहीं सोया था। आपने नींद की कोई दवा दी थी क्या?' डॉक्टर ने सिर झटकते हुए इंकार किया- 'नहीं, कोई दवा नहीं दी थी। आप अपने आप सो गए। आपके दादा जी आए। वे कुछ देर आपका माथा सहलाते रहे। और देखते-देखते आप गहरी नींद में चले गए।'

'कहां हैं बाबा?' कुछ चौंकते हुए वैभव ने पूछा। कुछ धुंधली छाया की तरह बाबा के आने की बात याद आई। बहुत कम देखा है उन्हें, पर



रेखांकन : चंदन यादव

जिसे घरवालों का प्यार जैसे कुछ कहा जाता है, उसका आभास उन्हीं के पास रहने पर होता है।'

'मैंने अपने घर पहुंचा दिया है। आप गहरी नींद में थे। मैंने उनसे कहा कि चलकर नहा-धो लें, नाश्ता कर लें। वैभव के जागते ही मैं आपको बुला लूंगा। कहिए तो अब बुला लाऊं?' डॉक्टर ने पूछा।

डॉक्टर का घर और नर्सिंग होम एक-दूसरे से लगे हुए हैं। डॉक्टर का नौकर उनके घर का काम करता है। खाना बनाने-खिलाने से लेकर घर की देखभाल सब उसी के जिम्मे। सुदर्शन जी अपने बेटे-बहू के घर न जाकर सीधे चिट्ठी में लिखा पता पढ़कर नर्सिंगहोम चले आए थे। डॉक्टर प्रेम ने बहुत आग्रह करके वैभव के सो जाने के बाद उनको नहाने-खाने के लिए तैयार किया था। वैभव नर्सिंगहोम के कमरे में रहते थे। डाक्टर की बात पर हां कहने के साथ ही वैभव ने कहा, 'यहां मत बुलाइए। चलिए मैं भी वहीं चलता हूं। मुझे ऐसी कोई बीमारी तो है नहीं कि चल-फिर न सकूं।'

डॉक्टर ने हंसते हुए कहा, 'यह तो और अच्छी बात है। वहीं चलते हैं। रही बीमार होने की बात तो असलियत यह है कि आप बीमार हैं ही नहीं। कभी-कभी बहुत सोचने के कारण कुछ तनाव में आ जाते हैं।' वैभव की भौंहें सिकुड़ने को हुई किंतु वे सहज बने रहे। दोनों सुदर्शन जी के पास आ गए। उन्होंने भोजन कर लिया था और नौकर से कह रहे थे कि जाकर देख आओ, वैभव जगे कि नहीं।

दादाजी को देखकर वैभव कुछ पल ठिठके रह गए। दादा जी कुर्सी से उठते, उससे पहले ही वैभव उनकी गोद में गिरकर उनसे चिपट गए। डॉक्टर प्रेम की आंखें उमड़ने लगीं। वह चुपचाप एक कुर्सी पर बैठकर वह दृश्य देखने लगे जो उनके अपने जीवन में कभी नहीं आया था।

सुदर्शन जी गोद में दुबके पोते की पीठ सहलाते रहे। वैभव दोनों बांहों से दादा जी की कमर को घेरकर मुंह उनकी गोद में छिपाए रहे। बहुत देर बाद दादाजी ने वैभव को उठाकर सीधा बैठा दिया। अब दोनों एक-दूसरे की आंखों में देख रहा था। दोनों के मुख पर सुख और संतोष छलक पड़ा था। डाक्टर प्रेम ने वैभव को इतना शांत कभी नहीं देखा था!

वैभव का चेहरा हल्का-सा बदला। उन्होंने दादा जी से सीधा सवाल किया, 'दादा जी! मैं आपका बेटा क्यों नहीं हुआ?' हंसकर सुदर्शन जी ने कहा, 'तुम हमारे बेटे ही तो हो।' नहीं दादाजी! आपके और मेरे बीच जो दो आदमी हैं, जिन्हें मेरा मां-बाप कहा जाता है, उनको तो कोई बच्चा चाहिए ही नहीं था।'

हांफ गए वैभव। चुप हो गए। आंखें बंद करके निष्पंद पड़ गए। डा. प्रेम ने सुदर्शन जी को बताया, क्रोध और हिंसा से जलते रहते हैं। मां-बाप की शक्ल नहीं देखना चाहते। पहले उन लोगों की जो भी गलती रही हो, अब तो बेचारे पछता रहे हैं। सुदर्शन जी इतना कहकर खामोश हो गए अपना और बच्चों का जीवन बरबाद करने के लिए क्या ऐसी एक ही गलती काफी नहीं होती? ❑

दस्तावेज

प्रेमचंद : घर में और बाहर

प्रेमचंद का जीवन अवलोकन करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वे न केवल उच्चकोटि के लेखक थे, वरन् उनका व्यक्तिगत जीवन भी— घर और बाहर एक ऊंचे धरातल पर स्थापित था। अपने उपन्यासों और कहानियों में उन्होंने जिस दलित वर्ग के शोषण और निर्यातन के विरूद्ध आवाज उठाई उसके प्रति उनकी केवल मौखिक सहानुभूति नहीं थी। जिन आदर्शों की उन्होंने अपने साहित्य में स्थापना की है उनकी अवधारणा अपने जीवन में करने का भी भरसक प्रयत्न किया है। प्रेमचंद जो लिखते थे उसको मानते भी थे, उस पर जीते भी थे। प्रस्तुत है प्रेमचंद के जीवन पर आजकल में साठ वर्ष पूर्व प्रकाशित श्री विश्व का आलेख

आज से पंद्रह वर्ष पूर्व की बात है-

रेल से उतर कर सुबह पांच बजे के लगभग लखनऊ में अमीनुद्दौला पार्क की सड़क के बीचोंबीच एक भद्र पुरुष आकर खड़ा हो गया। सामान सामने एक दुकान के तख्ते पर रख दिया। शरीफ आदमी टहलने के लिए आ-जा रहे थे। वह लगभग प्रत्येक से पूछते हैं- जी! माफ कीजिएगा! प्रेमचंद जी का मकान आप बता सकते हैं? नजदीक ही कहीं है। जी हां, प्रेमचंद!

सज्जन कुछ सोच में पड़ गए। माथा खुजलाया, बोले- प्रेमचंद! कौन प्रेमचंद ?

''जी वही आला मुंसिफ। यह एडिटर भी तो हैं, साहब! साहब मशहूर आदमी हैं।''

''ऐं-ऐं, पि...रे...म...च...न्द।'' और सज्जन असंमजस में पड़कर क्षमा मांगते हुए प्रश्नकर्ता को वहां छोड़ अपनी सैर पर बढ़ गए।

उस सड़क पर ही उस अनजान व्यक्ति को छह बज आए। साढ़े छह भी बजने लगे। तब तक दर्जनों सज्जनों को उसने क्षमा किया। उस जगह से कोई बीस गज के फासले पर ही प्रेमचंद जी का मकान होने पर भी उसको संभ्रांत श्रेणी से प्रेमचंद जी तक के उस बीस गज के दुर्लन्वय अंतर को लांघने में काफी देर लगी। क्या वह केवल संयोग ही था कि जिस व्यक्ति के नेतृत्व का सहारा थाम कर वह उन बीस गजों को पार कर जिन प्रेमचंद जी के घर पर आ लगा- वह कुल शील की दृष्टि से समाज का उच्छिष्ट ही था?

वह अचानक ही उनसे पूछ बैठा- भाई, प्रेमचंद जी का मकान बता सकते हो?

सन 30 में जब प्रेमचंद जी काफी प्रसिद्धि पा चुके थे और लखनऊ में शायद *माधुरी* के संपादक भी थे, तब उनसे मिलने के लिए गए जैनेन्द्र कुमार को उनका मकान ढूंढने में जो परेशानी हुई, उसे पढ़कर अचरज होता है।

परंतु इस अचरज का अंत उनका घर ढूंढ़ लेने पर ही नहीं हो जाता। उनसे साक्षात्कार करने पर दूसरा अचरज सामने आता है। क्या यही प्रेमचंद हैं! चेहरे पर बड़ी घनी मूछें, पांच रुपये वाली काफी पुरानी चिकनी चादर ओढ़े हुए, मामूली धोती पहने- जो घुटनों से जरा नीचे है 'वह देहाती-सा साधारण व्यक्ति ही क्या हमारा साहित्य सम्राट है? बनारस के एक प्रसिद्ध राष्ट्रीय कार्यकर्ता के घर पर यकायक पहुंचने पर जब उन्होंने अपनी कन्याओं और पुत्रों को बताया कि ये प्रेमचंद हैं, तो बच्चे अविश्वास से हंसने लगे, मानो उनके विनोदशील पिता उनसे हंसी कर रहे हों। पटना स्टेशन पर उनके स्वागत को आए हिंदी कार्यकर्ता ढूंढकर वापस चले गए पर प्रेमचंद को न पहचान सके और प्रेमचंद को सारी रात मुसाफिरखाने में काटनी पड़ी। साहित्य सम्मेलन में स्वयंसेवक उनको पंडाल के द्वार पर रोक देते, और वे दर्शकों में जा बैठते।

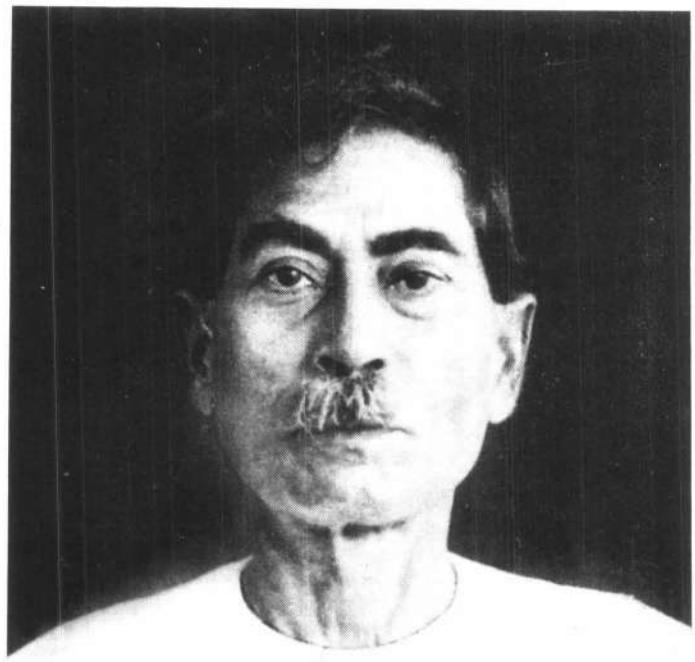
एक प्रसिद्ध साहित्यिक होते हुए भी वह इन भूलों का शिकार क्यों हुए? पहली बात तो यह है कि प्रेमचंद जी के स्वभाव में बर्हिमुखता जरूरत से कम थी। सभा-सम्मेलनों में वह मुश्किल से ही जाते थे। और सभापति बनने के लिए तो बड़ी कठिनता से राजी होते थे। 51-52 वर्ष की उम्र में उन्होंने पहली बार दिल्ली देखी। एक ही शहर में रहते हुए और बरसों से उनसे मिलने की इच्छा होते हुए भी *आज* के संपादक श्री विष्णु पराड़कर जी से यह तब मिले जब कि एक पंजाब के साहित्यिक ने, जो कि उनके यहां आकर ठहरा था, उनसे आकर मिलने की इच्छा व्यक्त की।

परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि वह किसी से मिलते-जुलते नहीं थे, कहीं आते-जाते नहीं थे। हां, यह जरूर है कि अपने सामने के ही कर्तव्य को वह महत्व देते थे और उसी के पालन में अपनी सिद्धि जानते थे।

दूसरी बात थी उनकी बाहरी अनाकर्षकता। जब हम बड़े आदमी की कल्पना करते हैं तो यही सोचते,हैं कि वह डीलडौल में साधारण मनुष्य से कुछ बड़ा होगा और उसकी बातचीत व आचार-व्यवहार विशेष प्रकार का

नवंबर 1945 में प्रकाशित

होगा। हम यह नहीं सोचते कि वह साधारण मनुष्य-सा भी हो सकता है। परंतु बाह्य आकृति विशेष आकर्षक न होते हुए भी उनकी बातचीत और आचार-व्यवहार अवश्य बड़े आदमियों के समान था। वह इस आत्मीयता से बात करते थे कि प्रथम परिचय में ही संकोच भाग जाता था। कोई लाख छोटा हो पर प्रेमचंद जी इतने बड़े थे कि अपनी उपस्थिति में वह उसे अपने तईं भी हीन अनुभव नहीं होने देते थे। उसे लगता था कि मैं अपने बराबर के व्यक्ति से बातें कर रहा हूं। दीन-हीन व्यक्तियों को दुख में देखकर उनका हृदय करुणा से भर आता था। बचपन से ही उनकी आदत गरीबों की मदद करने की थी। अपनी फीस के पैसों में से अपने मुहल्ले के छोटी जात के लोगों को खाने के लिए पैसे देते थे। और यह बात भी जब थी, अथवा शायद इसलिए थी क्योंकि उन्होंने स्वयं गरीबी का जीवन व्यतीत किया था।



मुंशी प्रेमचंद

अपने बचपन के बारे में वह लिखते हैं– "अंधरा के पुल का चमरौधा जूता मैंने बहुत दिनों तक पहना है। जब तक मेरे पिताजी जीवित रहे तब तक उन्होंने मेरे लिए बारह आने से ज्यादा का जूता कभी नहीं खरीदा और चार आने से ज्यादा गज का कपड़ा कभी नहीं खरीदा।' पंद्रह वर्ष की अवस्था होने पर आप बनारस पढ़ने के लिए भेजे गए। उस समय आप नवीं में पढ़ते थे। पिता ने पूछा– धनपत, तुझे कितना खर्च लगेगा? आप बोले– पांच रुपये दे दिया कीजिएगा। पर बनारस पहुंचकर आपको मालूम हुआ कि यह तो बहुत कम है, दो रुपये तो फीस के ही लग जाएंगे। पर क्या करें? घर से किसी तरह की मदद मिलने की आशा न थी क्योंकि गरीबी का घर था। स्वयं रोटियां सेंक कर और ट्यूशन करके आपने विद्या प्राप्त की। उन दिनों एक कुप्पी के सामने रात को बैठकर आप पढ़ते थे। विद्यार्थी जीवन में आपको एक बार अपना कोट, जो एक साल पहले बड़ी मुश्किलों से बनवाया था, दो रुपये में बेचना पड़ा।

आठ वर्ष की अवस्था ही में आपको मातृ वियोग सहना पड़ा। पिता ने दूसरा विवाह कर लिया। और कुछ वर्ष बाद उनकी असामयिक मृत्यु के पश्चात 15 वर्ष की किशोरावस्था में वह आपको न केवल विद्याहीन और साधनहीन छोड़ गए, वरन इस पर सौतेली मां और उसके दो बच्चों का बोझ भी लाद दिया। इतना ही नहीं, मृत्यु से एक वर्ष पूर्व वह प्रेमचंद की शादी भी कर गए वह भी एक ऐसी लड़की से जो उम्र में उनसे बड़ी थी। और बदसूरत होने के साथ-साथ जबान की भी मीठी नहीं थी। प्रेमचंद ने लिखा है कि 'जब मैंने उनकी सूरत देखी तो मेरा खून सूख गया।' एक ओर सौतेली मां, दूसरी ओर अयोग्य पत्नी, प्रेमचंद की आफत आ गई। घर में नित्य झगड़े होते रहते थे। प्रेमचंद का विचार था कि 'यदि बीच में चाची (सौतेली मां) न होती तो शायद मेरी उनकी जिंदगी एक साथ बीत भी जाती।' परंतु प्रेमचंद किसी पर शासन नहीं कर सकते थे। अत: इस गृह-कलह पर वह विजय न पा सके। अंत में उन्होंने अपनी पत्नी को उसके मायके पहुंचा दिया। घर वालों ने दूसरी शादी करने के लिए जोर दिया। उनको इसकी विशेष इच्छा नहीं थी क्योंकि उनका तो किसी से प्रेम प्रसंग था नहीं और फिर जीविका उपार्जन के कठोर जीवन पथ पर बढ़ते हुए इसका न अवकाश ही। फिर भी आप शादी के लिए तैयार हो गए, लेकिन एक शर्त पर कि विवाह किसी विधवा से हो। इसके लिए आपकी चाची वगैरह किसी की राय नहीं थी। मगर यह आपकी दिलेरी थी। आप समाज का बंधन तोड़ना चाहते थे। अत: बिना घरवालों को भी खबर किए आपने शिवरानी देवी जी से शादी की जो अपने पहले विवाह के तीन-चार महीने बाद ही विधवा हो गई थीं। इस विवाह से जहां आपकी दिलेरी का परिचय मिलता है वहां एक कमजोरी का भी पता चलता है। दूसरा विवाह करते समय आप को यह छिपाना पड़ा कि मैंने पहली पत्नी को छोड़ रखा है। उनको यही कहना पड़ा कि उसकी मृत्यु हो गई। शादी के बाद भी उन्होंने इस बात को अपनी दूसरी पत्नी से छिपाए रखा। कई वर्ष बाद जब उनकी पहली पत्नी के भाई उनसे मिलने आए और शिवरानी जी ने छिपकर उनकी बातें सुनी तब उनको पहली बार यह मालूम हुआ कि वह अभी तक जीवित है। तब वह प्रेमचंद पर बहुत नाराज हुई और उनको ले आने के लिए जोर दिया। परंतु प्रेमचंद राजी न हुए। तब शिवरानी ने स्वयं पत्र लिखा। उत्तर आया– 'जब वे खुद लेने आएंगे तो मैं चलूंगी।' प्रेमचंद इसलिए उनको लाने के लिए तैयार न हुए कि कभी इन दोनों में परस्पर झगड़ा हो और उनका जीवन दूभर हो जाए।

लगता है कि इसका प्रमुख कारण था प्रेमचंद का दब्बूपन। घर में वह किसी पर शासन नहीं कर पाते थे। उनके इस दब्बूपन के कारण ही पंद्रह साल तक उनकी बहन चाची के वैमनस्य के कारण मायके न आ सकीं। तभी उनको शिवरानी जी विनोद में 'दब्बू' और 'भौंदू' कहती थीं। शिवरानी जी का स्वभाव बिल्कुल इसके विरुद्ध था। वह कभी दबती नहीं थीं।

एक बार रेल में सफर करते हुए प्रेमचंद जी बीमारी की हालत में लेटे हुए थे। गाड़ी में भीड़ बहुत थी। मुसाफिरों ने जब आपको उठने के लिए



वाराणसी के निकट लमही में मुंशी प्रेमचंद का घर

कहा तो आप उठने लगे परंतु शिवरानी ने उनको नहीं उठने दिया और उन मुसाफिरों को ऐसी डांट पिलाई कि वे कई स्टेशन तक चुपचाप खड़े-खड़े ही गए। इस रूप में शिवरानी का स्वभाव प्रेमचंद के स्वभाव का पूरक था।

इस दब्बूपन के होते हुए भी, उनमें स्वाभिमान की कमी नहीं थी। गोरखपुर में जब वे एक स्कूल में अध्यापक थे तो इंस्पेक्टर मुआयना करने आए। स्कूल का मुआयना होने के बाद आप अगले रोज आराम कुर्सी पर लेटे घर के दरवाजे पर अखबार पढ़ रहे थे। तभी सामने से इंस्पेक्टर अपनी मोटर पर जा रहा था। आप अखबार पढ़ते रहे। इंस्पेक्टर ने आगे जा मोटर रोकी और अर्दली से आपको बुलाकर कहा- तुम बड़े मगरूर हो। तुम्हारा अफसर दरवाजे से निकल जाता है और तुम सलाम भी नहीं करते। आपने उत्तर दिया- मैं जब स्कूल में रहता हूं, तब नौकर हूं, बाद में अपने घर का बादशाह हूं।

वह असूल के आदमी थे। इसलिए सिद्धांत से गिरी हुई बात कभी नहीं मानते थे। महोबे में जब वे शिक्षा विभाग में ऑफिसर थे तो वहां बेगार में दूध, घी, बर्तन सब मिलते थे। परंतु आपने बेगार लेने से इंकार कर दिया। वहां वह भी एक प्रथा है कि अफसरों का स्वागत करते हुए तिलक लगाकर रुपये भेंट किए जाते थे। आप तिलक तो लगवा लेते थे परंतु रुपये नहीं लेते थे।

प्रेमचंद को अपना काम स्वयं करते कभी शर्म नहीं मालूम होती थी। वह अपने को 'मजदूर' कहा करते थे। शिवरानी कहतीं- तो आप हथौड़ा क्यों नहीं चलाते? वह कहते- फावड़ा नहीं चलता, कलम तो चलाता हूं।

थके-थकाए जब शाम को घर लौटते और उनकी पत्नी चाहती कि पैर वगैरह दबा दूं तो उन्हें यह सब बुरा मालूम होता था। परंतु स्वयं घर वालों की हर तरह से सेवा करने को तत्पर रहते थे। स्त्री-बच्चों के बीमार पड़ने पर सवेरे ही उठकर बच्चों के मुंह हाथ धुलाते, स्वयं खाना बनाते और कभी-कभी बर्तन भी अपने हाथों साफ करते।

यह सेवा वृत्ति उनकी घर तक ही सीमित नहीं थी। बाहर वालों की- चाहे वे अपरिचित ही हों- भरसक सहायता करने का उनका स्वभाव था। कई लोगों ने उधार लेकर फिर मुंह नहीं दिखाया। इस पर शिवरानी कहतीं- अब प्रतिज्ञा कर लीजिए कि उधार की नीयत से किसी को न दूंगा। प्रेमचंद कहते- तुम जैसा चाहो वैसा ही करूंगा। पर जो मांगने आएगा उसे देना तो पड़ेगा ही। कई बार आपने शिवरानी जी से छिपाकर अपरिचित व्यक्तियों को सहायता दी। उनके हृदय में मानवता के लिए सहज विश्वास की इतनी अधिक मात्रा थी कि कई बार धोखा खाने पर भी उनका हृदय हीन और कठोर नहीं बन पाया।

प्रेमचंद का जीवन अवलोकन करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वे न केवल उच्चकोटि के लेखक थे, वरन् उनका व्यक्तिगत जीवन भी- घर और बाहर एक ऊंचे धरातल पर स्थापित था।

अपने उपन्यासों और कहानियों में उन्होंने जिस दलित वर्ग के शोषण और निर्यातन के विरुद्ध आवाज उठाई, उसके प्रति उनकी केवल मौखिक सहानुभूति नहीं थी। अपनी इस सहानुभूति को अनेक बार अपने वास्तविक जीवन में व्यावहारिक रूप देकर वे उन प्रगतिशील साहित्यिकों के सन्मुख एक आदर्श रख गए हैं जो 'खस की टट्टी और विद्युद्व्यजन के शीतल वातावरण में सुकोमल गद्दियों से लदे हुए स्प्रिंगदार सोफों पर बैठकर पार्कर पेन से प्रचंड मार्तण्ड के प्रखर आतप से संतप्त, अर्द्धनग्न, जठराग्नि के ज्वर से जर्जरित फावड़े चलाने वाले मजदूर की अंतर्वेदना के शब्द चित्र अंकित करने का सद्प्रयास करते हैं।' उनका बाह्य जीवन हाथी के दांत की नाई' दिखावटी नहीं था, वरन् उनके आंतरिक जीवन का यथार्थ प्रतिबिंब था। जिन आदर्शों की उन्होंने अपने साहित्य में स्थापना की है- उनकी अवधारणा अपने जीवन में करने का भी भरसक प्रयत्न किया है। प्रेमचंद जो लिखते थे उसको मानते भी थे, उस पर जीते भी थे। □

लेखकों से

- रचना भेजने के लिए कोई शर्त नहीं है। सभी रचनाओं का हम स्वागत करते हैं।
- रचना एक तरफ टाइप की हुई या स्पष्ट लिखी होनी चाहिए। रचना के अंत में अपना नाम व पूरा पता अवश्य लिखें।
- यदि आप अस्वीकृत रचना वापस चाहते हैं तो कृपया अपना पता लिखा, डाक टिकट लगा लिफाफा लगाना न भूलें।

संपादक

आजकल

प्रकाशन विभाग,
पटियाला हाउस
नई दिल्ली-110001

दूरभाष : 23387876

भारतीय संस्कृति के पुरोधा : महापंडित राहुल सांकृत्यायन

सैर कर दुनिया की गाफिल जिंदगानी फिर कहां
जिंदगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहां

नवाजिंदा बाजिंदा के मुंह से निकले इस शे'र से ही महापंडित राहुल सांकृत्यायन को यायावरी वृत्ति की प्रेरणा मिली थी। राहुल जी के समस्त जीवन और कृतित्व को अभिप्रेरित करने वाला प्रमुख तत्व रहा है– उनकी घुमक्कड़ी प्रवृत्ति। इस महायात्री के अंतरंगतम क्षणों के बारे में जानने के लिए उनकी धर्मपत्नी डॉ. कमला सांकृत्यायन से* प्रकाश प्रसाद उपाध्याय *और* शुभंकर मिश्र *की बातचीत।

प्रश्न : **आप महापंडित राहुल सांकृत्यायन जी की धर्मपत्नी हैं, उनके जीवन के किस पक्ष ने आपको सबसे अधिक प्रभावित किया है?**

उत्तर : महापंडित राहुल जी के संपर्क में मैं बहुत बाद में आई, तब तक वे अंतर्राष्ट्रीय विद्वान की ख्याति प्राप्त कर चुके थे। सर्वप्रथम मैं कालिम्पोंग में 1949 में उनके पास एक सहयोगी के रूप में लेखन कार्य में सहयोग देने आई थी। तब तक मैंने उनका नाम भी नहीं सुना था, न कोई परिचय था। सम्पर्क सूत्र बने थे, स्कूल में मुझे हिंदी पढ़ाने वाले पंडित जी, जो उनके पुराने परिचित थे। इन्हीं पंडित जी के माध्यम से मैं उनके पास आई थी। एक श्रेष्ठ विद्वान के दर्शन करने का मुझे अवसर मिला था, जिसे मैं अपना अहोभाग्य समझती थी। उनके मानवीय गुणों- दुःखी, अभावग्रस्त समुदाय के प्रति सहानुभूतिशीलता से मैं बहुत प्रभावित हुई थी। एक विश्व प्रसिद्ध विद्वान किंतु साधारण लोगों के प्रति उनमें मानवता का संबंध यह हमारे लिए अत्यंत आश्चर्य की बात थी।



राहुल जी, पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी (बाएं) के साथ

पंडित राहुल सांकृत्यायन से पहली बार आप कैसे संपर्क में आईं?

उनसे मेरी प्रथम भेंट 1949 के अप्रैल महीने में कालिम्पोंग (दार्जलिंग जिला) में हुई थी। उस समय वे प्रयाग स्थित हिंदी साहित्य सम्मेलन के लिए शब्द कोश निर्माण का काम कर रहे थे। गर्मियों में अपने तीन सहयोगियों के साथ वे कालिम्पोंग आ गए थे। इन शब्द कोशों की प्रेस कापी तैयार करने के लिए उन्हें कुछ लड़के-लड़कियों की जरूरत थी, जिनका हस्तलेख अच्छा हो। स्कूल में मुझे हिंदी पढ़ाने वाले बिहारी मास्टर जी महापंडित जी के पुराने मित्र थे। मैं इन मास्टरजी के माध्यम से ही उनके संपर्क आई थी। शब्दकोश के बाद उन्होंने अपने निजी लेखन में सहयोग देने के लिए मुझे नियुक्त किया था।

कैसा अनुभव हो रहा है कि इतने महान व्यक्ति की आप पत्नी हैं?

जब उनके संपर्क में पहले आई थी तो मैं उनके बारे में ज्यादा नहीं जानती

थी। हमारे बिहारी पंडित ने बतलाया था कि वह बहुत बड़े विद्वान हैं। उस समय पढ़ने लिखने में मेरी रुचि देखकर और शायद मेरी उस समय की प्रखर बुद्धि के कारण भी वे मुझसे प्रभावित हुए थे। इसीलिए आगे पढ़ने के लिए उन्होंने मुझे जोर दिया, प्रेरित किया। उस समय तो मैं उनकी पत्नी बनूंगी, ऐसी कल्पना भी नहीं की थी। और जब यह अवसर आया तब मुझे प्रसन्नता हुई। एक महान विद्वान की पत्नी बनने का सौभाग्य उन्होंने मुझे प्रदान किया, मुझे पढ़ाया, आगे बढ़ाया। अपने पैरों पर खड़ा करने, स्वावलम्बी और स्वाभिमानी बनाने में उनका ही हाथ रहा। अत: मैं उनको अपने पति से भी बढ़कर श्रद्धेय गुरु एवं विधाता मानती हूं।

महापंडित राहुल जी का मूल नाम केदारनाथ था। केदारनाथ पाण्डेय से राहुल सांकृत्यायन की यात्रा के बारे में कुछ बताएं?

राहुल जी का बाल्यकाल का नाम केदारनाथ पाण्डेय था। जब वे सनातनी साधु बन गए तब उनका नाम रामोदारदास / फिर रामोदार साधु में परिणत, हो गया। अंत में 1930 में जब वे बौद्ध संन्यासी बने तब रामोदार साधु के स्थान पर (रा. सा. की समानता पर) 'राहुल सांकृत्यायन' नाम ग्रहण कर लिया। राहुल नाम भगवान गौतमबुद्ध के पुत्र का था। हमारे राहुल जी को यह नाम पसंद था इसलिए उनका आखिरी नामकरण 'राहुल सांकृत्यायन' हुआ। सांकृत्यायन उनके गोत्र का नाम है। ऋषि संस्कृति उनके वंश के आदि पुरुष थे। इन्हीं संस्कृति से 'सांकृत्यायन' गोत्र बना है। हमारे राहुल जी अपने अंतिम नाम से ही जीवन भर जाने जाते रहे हैं। उनके समय में 'राहुल' नाम को कम लोग जानते थे, पर आजकल यह बहुत 'कॉमन' हो गया है।)

श्रीलंका में जब वह पहली बार अध्ययन-अध्यापन के लिए गए थे, तब उनको 1927 में वहां के कॉलेज से 'त्रिपिटकाचार्य (Doctor of Tripitakas) की उपाधि से विभूषित किया गया। 1935-36 में काशी की विद्वतसभा की ओर से उन्हें 'महापंडित' की उपाधि से विभूषित किया गया और 1948 में अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि से सुशोभित किया। इस प्रकार पठित समाज में वे 'त्रिपिटिकाचार्य साहित्य वाचस्पति महापंडित राहुल-सांकृत्यायन' के नाम से सुपरिचित हैं।

काशी की नगरी संस्कृत व संस्कृति का केंद्र रही है। राहुल सांकृत्यायन को इस नगरी में संस्कृत/ संस्कृति रोक नहीं पाई। जबकि आज दुनिया उन्हें, संस्कृत / संस्कृति के एकांड पंडित व विचारक के रूप में याद करती है। यह सब कुछ कैसे संभव हो सका? उनकी शिक्षा-दीक्षा के बारे में कुछ बताएं।

यह सच है कि काशी की नगरी संस्कृत/ संस्कृति का केंद्र रही है किंतु राहुल जी को इस नगरी में संस्कृत/ संस्कृति क्यों रोक नहीं पाई? इसका कारण जानने के लिए उनकी पुस्तक 'मेरी जीवन यात्रा' के प्रथम खण्ड को पढ़ना चाहिए। उनके समय में विद्या अध्ययन की कोई सुविधा नहीं थी। धनाढ्य वर्ग के लिए तो ऐसी कठिनाई ही थी, किंतु उनकी तरह के मध्यम वर्गीय किसान परिवार में जन्मे व्यक्ति के लिए चाहने पर भी पढ़ाई-लिखाई की एक जगह रहकर विद्याध्ययन की सुविधा कतई नहीं थी। अपने जीवन के आरंभिक दिनों में वे काशी में संस्कृत अध्ययन के लिए कुछ समय रहे भी थे। परंतु घर से भागे हुए व्यक्ति के लिए काशी में रहकर पढ़ना खतरे से खाली नहीं था। कभी भी घरवाले उन्हें पकड़कर 'कनैला' ले जाएंगे, इसी भय से वे काशी से दूर बिहार में, फिर दक्षिण में तिरुमिशी आदि तीर्थों में जाकर विद्वानों और महंतों की सहायता से संस्कृत का अध्ययन नियमित रूप से करते रहे थे। तभी तो बाद में उनकी संस्कृत विद्वता के लिए काशी की पंडित सभा ने उन्हें 'महापंडित' की उपाधि से अलंकृत किया था। उनके समय में नियमित शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था कहां थी? तब भी वे अपनी अध्ययन शीलता एवं विद्या व्यसनी स्वभाव के कारण इतने बड़े विचारक और प्रख्यात विद्वान बन सके। आज उनके कृतित्व पर देश-विदेश में कितने ही शोधकर्ताओं को डॉक्टरेट की उपाधि मिल चुकी है और कितने ही शोधार्थी आज भी कार्यरत हैं।

हरबर्ट रीड की एक उक्ति है कि आदमी का व्यक्तित्व समय के प्रवाह में तैरते हिमखंड की तरह बाहर से बहुत कम दिखाई देता है। बाहर से जो कुछ दिखता है। उसका कई गुना वह भीतर होता है। राहुल जी के साथ आप लंबे समय तक रही हैं, ऐसी ही कुछ बातें जो आप उनके बारे में बताना चाहती हों।

महापंडित राहुल जी बहुत ही गुणी एवं विशिष्ट चरित्र के व्यक्ति थे। स्पष्टवादी, निस्पृह, निरभिमानी, स्वाभिमानी, पर दु:ख कातर, गुणग्राही ऐसे कितने ही विशेषण उनके लिए प्रयुक्त किए जा सकते हैं। वे हमारे लिए विलक्षण प्रतिभाशाली, स्नेहशील, सहानुभूति-संवेदनशील व्यक्ति थे। अहंकार उनमें जरा भी नहीं था। उनके समय के लेखक, साहित्यकार दिखावा नहीं करते थे। शांत रहकर चुपचाप साहित्य सृजन एवं ग्रंथ प्रणयन में लगे रहना उनका काम था। आज के जमाने में ऐसे कई लेखक हमने देखे हैं जो अपनी छोटी सी पुस्तक का भी धूमधाम से विमोचन कराते हैं, वाहवाही लूटते हैं। यहां तक कि अपनी पुस्तक को प्रकाशित कराने के लिए सरकारी अधिकारियों की चाटुकारी करते हैं, उनके आगे पीछे लगे रहते हैं। इस कोटि में हमारे राहुल जी नहीं आते। जहां तक मुझे याद है 1949 से 1961 ई. तक उन्होंने बड़ी-छोटी मिलाकर कुल 56 पुस्तकों की रचना की जो अपने आप में महत्वपूर्ण है। परंतु किसी एक ग्रन्थ का भी विमोचन (लोकार्पण) समारोह नहीं हुआ। इस तरह के प्रचार से राहुल जी बचते थे। न बड़े लोगों या पैसे वालों की चाटुकारी करते थे, न घमंड में चूर होकर सभाओं-गोष्ठियों में अपना पांडित्य बघारते थे। सीधा, सरल एवं शांत जीवन था उनका।

अपने जीवन में उन्हें आर्थिक कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ा, परंतु इतना नहीं जितना लोग बखान करते हैं। किसी के सामने यों ही हाथ फैलाना उन्हें स्वीकार नहीं था। उन्होंने मुझे भी ऐसा ही सादा जीवन व्यतीत करने की शिक्षा दी। वे बार-बार कहते रहे कि आदमी को अपनी चादर के अनुसार पांव फैलाना चाहिए। औरों के सामने सिर झुकाना ऐसा कतई नहीं करना चाहिए।

वे अपने बारे में आलोचना सुनते थे, पर उत्तेजित होते कभी नहीं देखा, बल्कि आलोचकों के साथ वे मैत्री का ही व्यवहार करते थे। लेकिन अपना जो विचार व दृष्टिकोण है, उससे दूसरे के कहने पर बदलने को तैयार नहीं थे।

यात्राओं में आप केवल एक भौगोलिक बिंदु से ही नहीं गुजरते, इतिहास के एक मोड़ से भी गुजरते हैं। इतिहास में एक दौर से आप गुजर रहे होते हैं और वे सब, उनका देश, उनका समाज भी एक दौर से गुजर रहा होता है। राहुल सांकृत्यायन को

एक अथक यात्री के रूप में देखा जाता है। यात्री सांकृत्यायन के बारे में कुछ बताएं।

राहुल जी एक अथक यात्री के रूप में भी प्रसिद्ध रहे हैं, बल्कि उन्हें एक प्रथम कोटि का घुमक्कड़ कहा जाता है। बहुत से लोग यात्रा करना पसंद करते हैं, देश-विदेश का भ्रमण करते हैं। कुछ लोग सिर्फ यात्रा के लिए यात्रा करते हैं, कुछ भौगोलिक अध्ययन करने के लिए यात्रा करते हैं, कुछ लोग भ्रमण के दौरान स्थानीय इतिहास का भी सूक्ष्म अध्ययन करते हैं। हमारे पंडित जी भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, जिज्ञासाओं के साथ यात्राएं करते थे। इन सभी यात्राओं का विवरण उन्होंने अपनी पुस्तकों में दिया है। इन विवरणों को पढ़कर ही ज्ञात होता है कि उनकी दिलचस्पी यात्रा के सिर्फ एक पहलू पर ही नहीं है। यात्रा संबंधी उनकी पुस्तकें हिंदी के यात्रा-साहित्य में बहु-चर्चित रही हैं।

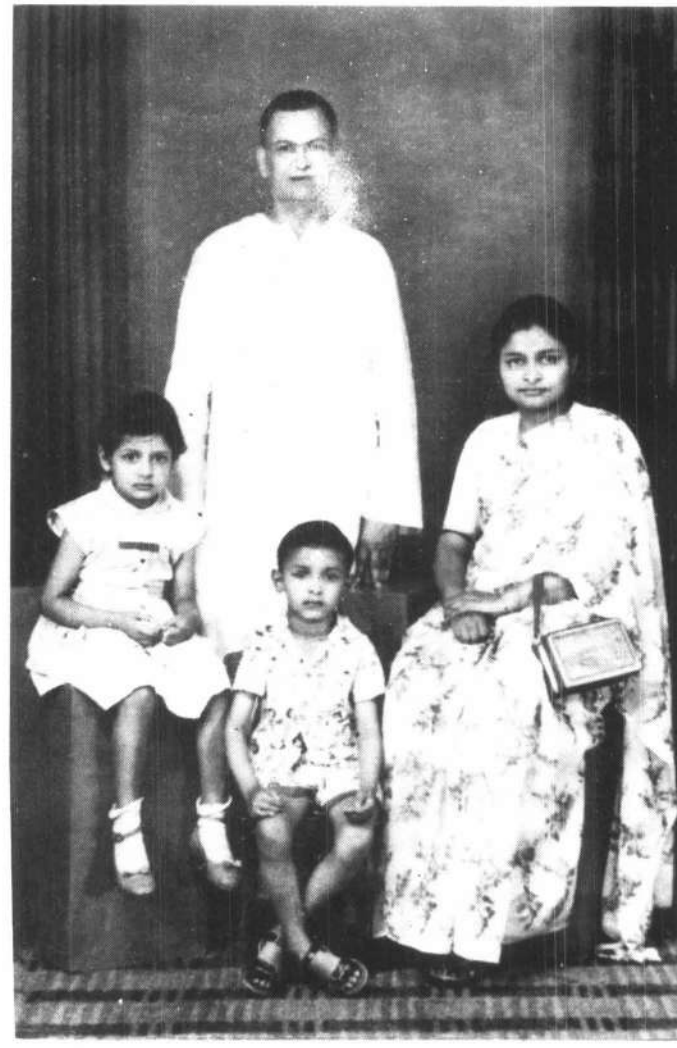
साहित्यिक हलकों में माना जाता है कि महापंडित राहुल की वैचारिक यात्रा सनातन हिंदू धर्म से आर्य समाज, बौद्ध धर्म से होती हुई मार्क्सवाद तक आई। यह कहां तक सच है?

साहित्यिक हलकों में राहुल जी की वैचारिक यात्रा का क्रम जिस तरह से ग्रहण किया जाता है, वह एक तरह से ठीक ही है। उनका जन्म कट्टर सनातन ब्राह्मण परिवार में हुआ। उनके पिता पुरोहित भी थे। सभी हिंदू कर्मकांडों का उनके यहां पालन किया जाता था। जब पंडित जी घर छोड़कर दुनिया को देखने बाहर निकल पड़े तब वे आर्य-समाज के प्रभाव में आए थे। स्वामी दयानंद के विचारों का उन्होंने अध्ययन किया। उत्तर प्रदेश एवं पंजाब में उनके कई आर्यसमाजी मित्र थे, इनके संपर्क में रहते आर्यसमाजी विचारों का उन पर गहरा प्रभाव पड़ता गया। बाद में वे आगरा स्थित आर्य मुसाफिर विद्यालय में भर्ती हुए और वेद-उपनिषद् के अतिरिक्त अरबी-फारसी-उर्दू में लिखित अन्य धर्मों के ग्रन्थों का भी अध्ययन किया और अंत में वे स्वयं आर्य समाज के प्रचारक बन गए। आर्य समाजी प्रचारक बनने के बाद भी उनके मन में अंतर्द्वंद्व चल रहा था। इसी दौरान वे तुलनात्मक अध्ययन के लिए बौद्धधर्म के सम्बंध में भी जानकारी लेते रहे।

श्रीलंका में वे संस्कृत अध्यापक नियुक्त होकर गए और स्वयं पालिभाषा और त्रिपिटक का अध्ययन करते रहे। तभी उन्होंने महसूस किया कि ईश्वर और बुद्ध साथ-साथ नहीं रह सकते। इसी कारण से उन्होंने बौद्ध धर्म और दर्शन का गहरा अध्ययन किया। प्रथम तिब्बत यात्रा के बाद वे 1930 में पुन: श्रीलंका गए और बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गए थे।

पर उनका अध्ययन क्रम थमा नहीं- मन में द्वंद्व चलता रहा। सोवियत क्रांति और लेनिन के बारे में भी वे सुनते रहे थे। स्वयं पहली बार सोवियत भूमि यात्रा करने के बाद उनके मन में मार्क्स के विचारों ने प्रभाव डाला और अंत में मार्क्सवादी बन गए। किंतु उन्होंने जो बुद्ध को महामानव के रूप में देखा, उनके विचारों से प्रभावित थे- वे ही बातें काल मार्क्स के विचारों में दिखाई दीं। अत: राहुल जी को जो लोग कोरे मार्क्सवादी कहते हैं, वह ठीक नहीं है, उनके मन में अंत तक सिद्धार्थ गौतमबुद्ध के प्रति श्रद्धा बनी रही।

राहुल जी के रचनात्मक संघर्ष का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते समय अधिकांशत: उनके आर्थिक संघर्ष के ब्योरे मिलते हैं। कृपया उनके इस संघर्ष के बारे में कोई वाकया?



राहुल जी अपनी धर्मपत्नी डॉ. कमला सांकृत्यायन और बच्चों के साथ

यह सही है कि उन्हें आर्थिक संघर्ष करना पड़ा, परंतु इतना नहीं जितना लोग अनुमान करते हैं या बखान करते हैं। जब पहले वे यात्री घुमक्कड़ थे, अकेले थे, तब पैसे का उतना सवाल नहीं था। वे वैसे भी फिजूलखर्च नहीं थे। जब वे साधु, भिक्षु, घुमक्कड़ रहे- तब का अपना अनुभव बताते- "कभी घना ही घना, कभी चना ही चना, कभी वह भी मना।" हां भूखे रहने की कभी नौबत न आई। रेल यात्रा के लिए भी वह कहते "छह आने दस आने" (छुक छुक रेल) में बिना पैसे की यात्रा करने पर कोई न कोई दानी सहयात्री मिल ही जाता, जो उनके लिए भी टिकट खरीद देता।

पर यह 'रमते राम' की स्थिति बराबर नहीं रही। उम्र ढलने लगी, शरीर रोगग्रस्त हो गया, घर ने भी बांध लिया, आमदनी सिर्फ रायल्टी थी, जो प्रकाशकों की कृपा पर निर्भर थी। राहुल जी हमेशा से आमदनी और खर्च का लेख-जोखा रखते थे। आमदनी से खर्च ज्यादा नहीं होना चाहिए। यह उनका सिद्धांत रहा। पर घर बांधने पर उनके यहां मेहमानों की भीड़ लगी रहती थी, कोई मेहमान तफरीह के लिए, कोई अपने स्वास्थ्य सुधार के लिए ज्यादा समय लेकर आते तब हमारे पंडित जी को चिंता होती थी। आमदनी और खर्च का लेख-जोखा रखना उन्होंने मुझे भी सिखाया, जो आज भी मेरी

आदत बनी हुई है।

लोगों ने यह अफवाह फैलायी कि वे जीवन के अंतिम वर्षों में परिवार का बोझ न उठा सकने के कारण विदेश चले गए थे। पर यह निर्मूल धारणा है। विदेश जाने का कोई दूसरा ही कारण था, जिसका खुलासा मैंने अपने एक लेख में किया है।

पंडित जी चाहते थे कि मैं पढ़-लिखकर अपने पैरों पर खड़ी हो जाऊं। इसीलिए उन्होंने मुझे पढ़ाया भी और उनकी आशा के अनुरूप मैं अपने पैरों पर खड़ी भी हुई। पर वे अपनी आंखों से मुझे इस योग्य होते नहीं देख पाए, इसी का मुझे अफसोस है।

माना जाता है कि उनके सामाजिक उपन्यास 'जीने के लिए' (1940) के नायक देवराज के व्यक्तित्व में महापंडित राहुल जी के व्यक्तित्व का प्रक्षेपण है, यह कहां तक सच है?

मैंने उनके सामाजिक उपन्यास 'जीने के लिए' को तीन बार पढ़ा है। इस उपन्यास के नायक का जहां चित्रण आता है, वहां मुझे कुछ-कुछ लेखक के साथ साम्य नजर आता है। हालांकि उपन्यासकार अपने पात्र के चरित्र-गढ़ने में स्वतंत्र होता है, पर जहां उसके चरित्र चित्रण का सवाल आता है लेखक अपने ही अनुभवों के वर्णन करने में कैसे अपने आपको रोक सकेगा? चरित्र-चित्रण में अनायास ही अपना स्वरूप वर्णित हो जाता है। उपन्यास की स्त्री पात्र जेनी के बारे में जो लिखा गया है, वहां भी उनकी रूसी पत्नी की झलक कुछ हद तक मिलती है। दोनों के बीच के पत्र-व्यवहार में तो उनके निजी पत्रों का ज्यादा प्रभाव पड़ा है। यद्यपि 'जीने के लिए' लेखक की आत्मकथा नहीं है, जैसा कि महान आलोचकगण समझते हैं।

राहुल जी मुख्यतः ऐतिहासिक उपन्यासकार थे। उनके कई ऐतिहासिक उपन्यास प्रसिद्ध रहे हैं– *सिंह सेनापति* (1944), *विस्मृत यात्री* (1954), *जय यौधेय* (1944) और *दिवोदास* (1962) आदि। हालांकि इन पर बहुत पहले भी काफी कुछ कहा/लिखा जाता रहा है। इनके बारे में कुछ बताएं? इन रचनाओं में सबसे अधिक आप किससे प्रभावित हैं?

महापंडित जी मूलतः ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक उपन्यासकार रहे हैं। उपन्यास लेखन के लिए जिस कालखंड को उन्होंने लिया, उसे सजीव एवं विश्वसनीय बनाने के लिए उस काल-विशेष के इतिहास के साथ तत्कालीन सांस्कृतिक मूल्यों पर भी उनका ध्यान रहा। जैसा कि समाज व्यवस्था, खान-पान, रहन-सहन, भाषा व्यवहार आदि। उन सब का उन्होंने सूक्ष्म अध्ययन किया है तब उनकी लेखनी चली।

लेखक की कौन-सी कृति ज्यादा प्रभावशाली है, इस संबंध में मेरा यही मानना है कि उनकी सभी कृतियां मुझे अच्छी लगती हैं। उनकी हर पंक्ति मुझे प्रिय है, फिर औपन्यासिक कृतियों में कौन-सी विशेष अच्छी लगी, इस बारे में बतलाना कठिन महसूस होता है, फिर भी इतना कह सकती हूं कि उनके सम्पर्क में आने पर सबसे पहले उन्होंने अपनी दो कृतियां- *सिंह सेनापति* और *जय यौधेय* मुझे पढ़ने के लिए दीं। इन दोनों को पढ़कर मुझे बड़ा विचित्र लगा था। तब उनके अन्य उपन्यास *मधुर स्वप्न, विस्मृत यात्री* तथा *दिवोदास,* मेरे सामने ही लिखे गए थे। इनके कथ्यों से लिखते समय ही मैं परिचित होती चली गई। इनमें से किसी एक कृति का नाम मैं नहीं बतला सकती, जिससे मैं विशेष प्रभावित हुई। मैं तो उनकी सभी कृतियों से प्रभावित रही हूं।

कनैला की कथा (1955) में महामना राहुल जी ने अपने पितृग्राम की चर्चा की है। इसे कहानी विधा में एक नवीन प्रयोग के रूप में देखा गया है। राहुल जी के आरंभिक जीवन एवं गांवों से जुड़ी उनकी कुछ यादों के बारे में बताएं।

कनैला महापंडित जी का पितृग्राम है। बचपन की स्मृतियां, शीर्षक से उन्होंने अपने जन्म स्थान के बारे में कुछ संस्मरण लिखे हैं। इसी क्रम में *कनैला की कथा* भी लिखी गई, जो उस क्षेत्र विशेष के प्राचीन इतिहास और पुरातात्विक महत्व को ध्यान में रखकर लिखा गया है। अपने जन्म ग्राम में उन्हें हमेशा मोह रहा, पर रहना ज्यादा न हो पाया। गांववासियों में जिन जनों से थोड़ा भी स्नेह और सहयोग मिला उन सबके प्रति कृतज्ञ भाव उनके मन में हमेशा रहा। *कनैला की कथा* के बंगला अनुवाद को *वोल्गा से गंगा* भाग-2 के नाम से प्रकाशित किया गया है।

राहुल जी के साथ मैं और बच्चे भी एकबार उनके ननिहाल पन्दहा और पितृग्राम कनैला गए। गांव के सभी अपनों ने जो स्वागत उनका किया था, वह दर्शनीय रहा। वैसे भी राहुल जी अपने नाना-नानी की याद हमेशा करते रहे, नानी के हाथ के भोजन की उन्हें याद आती थी।

वोल्गा से गंगा (1942) अब तक की उनकी सबसे प्रमुख चर्चित कृति है। इसमें उन्होंने भारतीय मानव सभ्यता की विकास की रेखा को खोजने का प्रयास किया है। इसकी पृष्ठभूमि या इसके बारे में कोई रोचक बात जो आप यहां हमारे पाठकों को बताना चाहती हैं?

'वोल्गा से गंगा' उनकी प्रसिद्ध कृतियों में एक अप्रतिम कहानी संग्रह है। हिंदी साहित्य में इतने विशाल आयाम को लेकर शायद दूसरा ग्रंथ नहीं लिखा गया होगा। प्रस्तुत कृति में रचनाकार ने अपने पाठकों को मानव सभ्यता का विकास करने 'इवॉल्यूशन ऑफ मैनकाइंड' (Evolution of Mankind) के क्रमिक विकास को 20 कहानियों के माध्यम से बतलाने की चेष्टा की है, जो अत्यंत रोचक शैली में हैं। इस पुस्तक की रचना उन्होंने अपने हज़ारीबाग जेल प्रवास के दौरान की थी। अपने एक मित्र को लिखे पत्र के अनुसार उन्होंने 'वोल्गा से गंगा' की 20 कहानियों को 24 दिनों में लिखकर समाप्त कर दिया था। पुस्तक जब पहली बार छपी तो भारतीय संस्कृति के तथाकथित पंडितगण बौखला गए थे और उन लोगों ने राहुल जी को वेद निंदक तक कह डाला था। पर यह कैसा विचित्र संयोग है, यही पुस्तक आज भारत की सभी प्रमुख भाषाओं में अनूदित हुई है और विदेशी भाषाओं में भी। और नहीं तो राहुल जी को 'वोल्गा से गंगा' के लेखक के रूप में नयी पीढ़ी के लोग भी जानते है। इन 20 कहानियों में स्वयं लेखक को 'प्रभा' शीर्षक कहानी ज्यादा पसंद थी, क्योंकि यह प्राचीन संस्कृत कवि अश्वघोष के जीवन पर आधारित है।

आप स्वयं भी एक सफल लेखिका व चिंतक हैं। कृपया अपने रचना कर्म व चिंतन के बारे में कुछ बताएं। रचना की प्रथम प्रेरणा आपको कहां से मिली? महामना राहुल सांकृत्यायन का प्रभाव इस पर किस हद तक पड़ा है?

मैं स्वयं को सफल लेखिका नहीं मानती, न ही मेरी ज्यादा कृतियां छपी हैं। हिंदी-नेपाली में मौलिक और अनूदित मिलाकर कुल 13 पुस्तकें छपी हैं,

इनके अलावा चार सौ से भी अधिक निबंध-लेख, कहानियां- हिंदी और नेपाली भाषा में छपे हैं। इनको पुस्तकाकार रूप में छपाने की इच्छा है, परंतु प्रकाशक का प्रश्न है। मेरा लेखन क्रम आज भी जारी है। लिखने के लिए प्रथम प्रेरणा तो मुझे अपने स्वामी श्री राहुल जी से ही मिली। उन्होंने 1950 में ही लेखनी पकड़ने के लिए जोर दिया और लिखने के लिए मुझे हमेशा प्रोत्साहित करते रहे। मेरी पहली कहानी कोलकाता से प्रकाशित होने वाली पत्रिका *नया समाज* में छपी थी। राहुल जी जब जीवित थे, तब तक मेरी कुछ ही कहानियां और लेख प्रकाशित हुए थे। उनके दिवंगत हो जाने के बाद मेरी लेखनी ज्यादा गतिशील हो गई।

आप अल्पसंख्यक आयोग में कई वर्षों तक महत्वपूर्ण पद पर कार्य करती रही हैं। आयोग में अपने अनुभव के बारे में कृपया कुछ बताएं।

राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग में काम करने का मेरा अच्छा अनुभव रहा। इस महत्वपूर्ण पद पर काम करने की अवधि में मुझे विभिन्न धर्म एवं संप्रदाय के लोगों से निकट परिचय करने का मौका मिला। साथ ही देश के विभिन्न स्थानों के भ्रमण के कारण कई तरह के लोगों के साथ उठना-बैठना हुआ, उनकी समस्याओं विशेषकर धार्मिक-सामाजिक-शैक्षिक एवं आर्थिक समस्याओं से अवगत हो सकी। वैसे भी इस आयोग के मूल कार्यालय में अपनी-अपनी समस्याओं को लेकर लोग पहुंचते थे। अपनी परिधि और हैसियत के अनुसार मुझे कुछ समस्याओं का समाधान करने में सफलता भी मिली थी। यदि आयोग में काम करने का कुछ अधिक समय मिला होता तो शायद मैं और भी अधिक सफलतापूर्वक काम कर सकती थी।

आज के युग में आरक्षण एक गंभीर चर्चा का विषय बना हुआ है। इस स्थिति में अल्पसंख्यक आयोग के कार्य और उसकी भूमिका के संबंध में कुछ प्रकाश डालें।

यह मुझे मालूम है कि आज के युग में आरक्षण की गंभीर समस्याएं हैं। राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग के पास आरक्षण संबंधी कोई प्रावधान नहीं हैं। यह कार्य तो राष्ट्रीय अनुसूचित जाति एंव जनजाति आयोग के अधिकार में है। उसके संविधान में आरक्षण देने की क्षमता अंतर्भुक्त है। राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग के अंतर्गत मुस्लिम, सिक्ख, बौद्ध, पारसी, ईसाई और जैन धर्म को मानने वालों को ही अल्पसंख्यक के दायरे में लिया गया है। बौद्धों में आजकल नव बौद्ध अर्थात् अम्बेडकरी बौद्ध भी शामिल किए गए हैं। इनकी समस्यायें भी अल्पसंख्यक आयोग में विचाराधीन रहती हैं। महाराष्ट्र में इन नव बौद्धों की संख्या अधिक है और उनकी समस्याएं भी ज्यादा आर्थिक और शैक्षिक रहती हैं। इस कारण अपने कार्यकाल में मैंने महाराष्ट्र के विभिन्न स्थानों का कई बार दौरा किया था।

आयोग से सेवानिवृत्ति के पश्चात् आप क्या कर रहीं हैं? अपने रचनाकर्म के बारे में भी कृपया कुछ बताएं।

अल्पसंख्यक आयोग से सेवा निवृत्ति के बाद मैं दार्जिलिंग में अपने घर में रहकर ही कुछ लिखने पढ़ने का काम करती हूं। ज्यादातर मैं लेख निबंध आदि हिंदी और नेपाली दोनों भाषाओं में लिखती हूं। इनके अतिरिक्त कुछ यात्रा करने का भी शौक है, जब तक कि यह शरीर ठीक रहेगा।

हिंदी क्षेत्र से दूर रहने के कारण थोड़ी कठिनाई तो होती है, पर उससे सम्पर्क अभी टूटा नहीं है। पुस्तकें प्रकाशित कराने में कठिनाई जरूर महसूस करती हूं। नेपाली में तो अभी प्रतिकूल परिस्थिति है। वैसे बिना काम किए खाली बैठे रहना अपनी आदत में नहीं है, बातों में समय बरबाद करना भी ठीक नहीं लगता। समय का मूल्य समझना तो मुझे महापंडित जी ने ही सिखाया था।

आज की पीढ़ी के बारे में आप क्या सोचती हैं?

आज की पीढ़ी के लिए समय अनुकूल है। अनेक सुविधाएं उपलब्ध हैं। वर्तमान सरकार भी अपनी ओर से पूरी तरह कोशिश में है कि हमारे देश की नई पीढ़ी शिक्षित होकर योग्य बने, तकनीकी ज्ञान हासिल करे, योग्य बनकर राष्ट्र का नाम रोशन करे। इसीलिए सरकारी तथा गैर सरकारी तौर से कई प्रकार की शिक्षण संस्थाएं खुल रही हैं- उच्च शिक्षाएं सबको उपलब्ध हों, इसलिए शुल्क (फीस) की दरों को कम किया जा रहा है। इस प्रकार वर्तमान और आगामी पीढ़ियों का भविष्य सुंदर दिखाई दे रहा है। जरूरत इस बात की है कि हमारी नई पीढ़ी को निराश नहीं होना चाहिए, योग्य बनकर अपने ही देश में रहकर काम करना चाहिए।

हमने देखा है युवा लोग कम्प्यूटर तथा ऐसे ही आधुनिक तकनीकी ज्ञान हासिल करके पश्चिमी देशों में काम करने चले जाते हैं और वहां काम करके खूब धन भी कमा लेते हैं। पर आजकल ऐसी नौबत आ गई है कि जो लोग पश्चिमी देशों में काम करने गए थे वे पुन: अपने देश में लौटकर आ रहे हैं। अमरीका से बहुत-सी सॉफ्टवेयर कंपनियों में कार्यरत भारतीय युवक स्वदेश लौट आ रहे हैं। नेपाल में नौकरी के लिए गए हुए लोग फिर स्वदेश की ओर ही ताकने लगे हैं। हमारा कहना है- वर्तमान पीढ़ी को कमर कस लेनी है क्योंकि भावी इतिहास उन्हीं का है, पलायन नहीं करना है, दुनिया को बदलना है।

ऐसी कोई और बात जो विशेष रूप से आप हमारे पाठकों को बताना चाहती हैं?

मेरा कहना यही है कि-राष्ट्र को समृद्ध बनाने, समाज की सेवा कर उसे उन्नत बनाने में हम सबको एकजुट होकर काम करना चाहिए। जात-पात, वर्णभेद, अमीर-गरीब के भेदभाव को मिटाकर कदम से कदम मिलाकर चल पड़ना चाहिए। समय का सदुपयोग करना सीखें। युग की मांग के अनुसार हमें चलना चाहिए।

रचनाकर्म के अलावा कृपया अपनी अन्य गतिविधियों के बारे में भी कुछ बताएं।

मैंने पहले ही उल्लेख किया है- अपनी गतिविधि को मैंने लेखन-पठन तक ही सीमित नहीं रखा है। अपने क्षेत्र की साहित्यिक-सांस्कृतिक गोष्ठियों-समारोहों में सक्रिय भाग लेती रही हूं। राहुल जी के कृतित्व पर शोध करने वाले दूर-दूर से आते हैं, उनकी जिज्ञासा शांत करना भी मेरा काम रहा है। इन सबके बावजूद यात्रा करना भी मुझे रुचिकर लगता है। रिटायरमेंट के बाद भी सक्रिय जीवन जीने की इच्छा है। यहां इसके लिए सुविधाएं नहीं हैं। संतोष इसी में है कि अभी दिल्ली साहित्य अकादमी से मैं जुड़ी हुई हूं। मुझे जीवन के अंत तक काम करते रहने की इच्छा है। □

चार गीत : **शैलेंद्र चौहान**

आषाढ़ बीतने पर

ऐसे भी दिन आएंगे
पता नहीं था

सूनी–सूनी दोपहरी में
सुधियों के जंगल घूमेंगे
ताल–तलैया, खेत–मड़ैया
बेरौनक, बिछड़े हुए समैया
सूनी–सूनी आंखों में
सपनों का बिखराव
पंछी अब बिरहा गाएंगे
पता नहीं था ऐसे भी दिन आएंगे

अमलतास पीले–पीले छितराए थे
चंपा धीमी–धीमी महक रही थी
सेमल, टेसू दमक रहे थे
अब तो बस
अंजुरी भर फूल भरे
गुलमोहर खड़ा है
बगनबेलिया का रंग निखरा है

अमराई की गंध खो गई
कोयल की मीठी
कूक नहीं
भौरे भी अब क्या गाएंगे

पता नहीं था
ऐसे भी दिन आएंगे !

आतप

फिर फूले हैं
सेमल, टेसू, अमलतास
हुआ गुलमोहर
सुर्ख लाल
ताप बहुत है
अलसाई है दोपहरी

सांझ ढले
मेघ घिरे
धीरे–धीरे खग, मृग
दृग से ओट हुए
दुबके वनवासी

ईंधन की लकड़ी पर
रोक लगी जंगल में
वन–वन भटकें मूलनिवासी

जल बिन
बहुत बुरा है हाल
तेवर ग्रीष्म के हैं आक्रामक

कैसे कट पाएंगे ये दिन
जन–मन, पशु–पक्षी
हुए हैं सब बेहाल !

छवि खो गई जो

हो गई रात
स्याह काली
नीरव हो गया
वितान

खग, मृग सब
निश्चेष्ट
दृग ढूंढते वह
छवि खो गई जो

बढ़ रहा
अवसाद तम सा
साथ रजनी के
छोड़ तुमने दिया साथ
कुछ दूर चल के

रह गया खग
फड़फड़ाता पंख
नील अंबर में
भटकता चहुंओर

वह
लौटेगा धरा पर
होकर थकन से चूर
अनमना बैठा रहेगा
निर्जन भूखंड पर
अप्रभावित, अलक्ष
जग के व्यापार से !

शब्द नहीं झरते

निर्झर बहते रहते
बात–बात में
शब्द नहीं अब
वो झरते हैं

लगता है बांध दिया है
शब्दों को बहने से
रोक रहा है ये बंध
सूख जाएगा शब्दस्रोत ही
यूं बाधित रहने से
वेग नहीं
तब ऊर्जा कैसे जन्मेगी

खाली की खाली
रह जाएगी
यह बंधी हुई घाटी
जलस्रोत नहीं
कि बढ जाएगा
बंधने पर

दुख है मिट्टी
अवसाद, अधैर्य चूना पत्थर है
और क्रूर नियति के संवाहक
क्या ऐसा ही करते हैं?

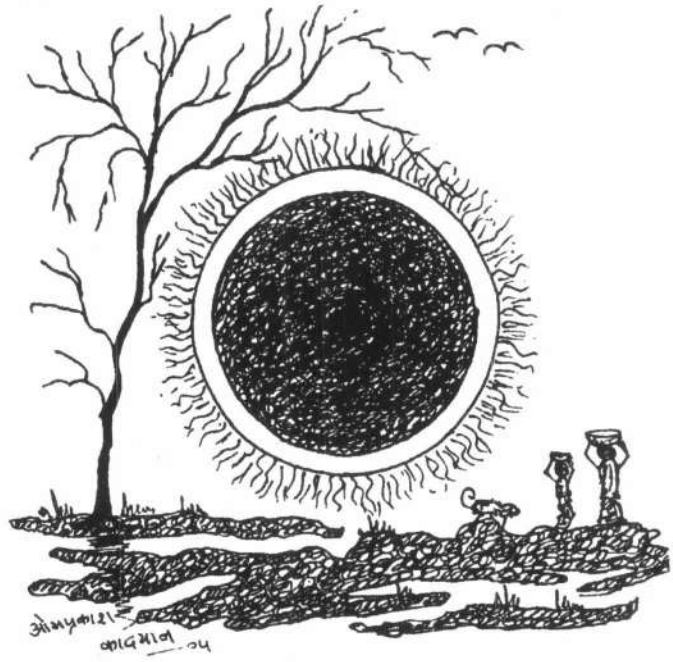
शब्द नहीं जल
कि बंध भरें
ये मन के बंधक हैं
मन ने इनको बांधा है

बंधे हुए शब्दों से
सींचोगे कैसे
हरी–भरी वसुधा को
स्नेह ममता को !

निर्झर बहते रहते
बात–बात में
शब्द नहीं अब वो झरते हैं !

कविता : **आरती वर्मा**

गांव की याद



रेखांकन : ओमप्रकाश कादयान

पढ़ने–लिखने की होड़ लगी थी,
शहरों–कस्बों की दौड़ लगी थी।

आवेदन और प्रार्थना–पत्रों पर
जेब खर्चों की तोड़ लगी थी

नौकरी, ओहदा और मर्यादा
सपनों में थी रोज की बाधा

इन सबकी ही दौड़ लगी थी
गांव से मेरा भाई आया

बिछुड़े संबधों को ठिठकाया
क्यों दीदी क्या भूल गई हो

अपनों को तो छोड़ गई हो
कभी–कभी अपने घर आना

घर–आंगन को देखकर जाना
गांव की मिट्टी महक रही थी।

मन की चिरैया चहक रही थी
बाबा की बातें, मां की टिकली
खेत–खलिहानों से बात थी निकली !

उबड़–खाबड़ स्मृतियों की
पगडंडी पर
मन मयूर ने पंख फैलाया
वर्षों बाद गांव में आई
मन ही मन थी
मैं मुस्काई !

दीदी देखें गांव की फसलें
ज्वार, मक्का और दाल की फसलें
दरवाजे पर धेनु गाय बंधी थी
सकोरे में मीठी दही जमी थी !

गर्म–गर्म भूजा भूंजवाया
तरह–तरह का अचार मंगाया
आलता सजे पावों से रुनझुन,
मामी ने आकर गले लगाया
भोला भाई झूम रहा था
बचपन की बातें ढूंढ रहा था

दीदी कितने वर्षों बाद तू आई
क्या मेरी तुझे याद न आई।
अब के गुड़िया की शादी में आना
फिर से सुनाना बचपन का गाना।

गुड़िया सचमुच बड़ी हुई थी
शहरों में रहकर बड़ी हुई थी
अब वह भी परदेसी होगी
वर्षों बाद पुराना कुनबा
नयनों में साकार हुआ था।

मन ही नहीं भूले भावों ने
फिर से नया आकार लिया था।

भाई से पूछा, गुड़िया अब बड़ी हुई है
सरपर तेरे अड़ी हुई है।

भाई बोला, फिक्र नहीं है
आ तुझको गुड़िया दिखलाऊं
उसकी बढ़ती बात बताऊं
वह मुझे खींचकर बाग में लाया
याद किया नन्हा बिरवा चिन्हवाया
दीदी तुझको याद है खट्टी
हमने तुमने साथ ही पौधा था लगाया
तब क्या मैं कुछ जान भी पाया।

सचमुच वह नन्हा–सा बिरवा सागवान था
मेरे हाथों का शीशम और घना था !

बचपन की यादें मचल रही थी
भूले सपनों को नेह घनी थी
दीदी देखो मेरी गुड़िया,
दीदी देखो तेरी गुड़िया
उत्तम और आकाश छू गई
मन के सपनों की आस छू गई।

देखो दीदी मेरा सपना,
देखो दीदी तेरा सपना
मन की तलहर छूकर फिसली !

जैसे पूछने लगी अचानक,
बेटी तू तो भूल गई है
कठिन प्रश्नों से जूझ रही है
अपनी मिट्टी को भूल गई है
मिट्टी तो नानी–दादी है तेरी
यह कैसे तुझसे छूट गई है
क्या कहती मैं बस् मौन खड़ी थी !

गांव की झूमती फसलों को
झूमते–इतराते वृक्षों को
भींगे नयनों से चूम रही थी।

गांव का मेरा आंगन प्यारा
भाई मधुर संबंधों का सितारा
भाई पलछिन को ढूंढ रही थी
गांव की यादें, गांव की बातें
सचमुच अब तक भूल गई थी !

दो कविताएं : **उत्तिमा केशरी**

नदी की तरह

मेरा मन
एक नदी की तरह
आगे बढ़ने को आतुर
रहता है,
हजारों पत्थर फेंकने के बाद भी
वह अलग कदापि नहीं होता
बल्कि
पुनः पुनः जुट जाती है
उसकी अखंडित धार !

प्रचंड धूप में भी
मैं सूखती नहीं हूं,
देती हूं पानी
उन छोटी–छोटी
चिड़ियों को
जो सागर तक
नहीं पहुंच पाती हैं !

क्योंकि
मेरा रूप और अस्तित्व
उन मां, बहन, पत्नी,
बेटी की तरह है
जो स्त्री की
पारंपरिक छवि में
जीती हैं
बार–बार !



शारदीया

शारदीया की
नायिका की तरह
वह प्रबुद्ध नारी
भटकती नहीं है
बल्कि
चुनती है
जीने की राह !

सदैव
अनुभव करती है
अपने भीतर की जीवंतता
और गढ़ती है
शब्दों के
संवेदनशील अर्थ !

ढूढती है
अपने अंदर
एक उद्वेग
और स्निग्धता
अपने उल्लासों में !

कविता : **सुरेश विमल**

लाक्षागृह

सुखद लगते हैं
लाक्षागृहों के कनक–पर्यंक
और कौशेय आस्तरण
पता न चले जब तक
उनकी दीवारों में
सुलगते हुए षड्यंत्रों का...!

सम्मोहक मुस्कानें लिए
वही सब चेहरे
जिनके मांगल्य की चिंता
निश्चिंत नहीं होने देती कभी
आतिथेय होते हैं हमारे
इन लाक्षागृहों में...!

ऐसा नहीं है कि बेखबर हैं हम
लाक्षागृहों की संस्कृति से
अपने ही विश्वासों को किंतु इस तरह
खंड–खंड नहीं होने देना चाहते हम;
संबंधों की मीठी ऊष्मा के
छद्म आचरण को
उतार फेंकना नहीं चाहते समय से पूर्व...!

भ्रम को भ्रम ही रहने देना श्रेयस्कर है;
भ्रम टूटा तो आस्थाएं भी टूटेंगी
टूटेंगे संबंध...!

पलायन भी
एक लाक्षागृह से
दूसरे लाक्षागृह तक
ले जाएगा सिर्फ
अपनी समस्त
अप्रासंगिक होती हुई
कामनाओं और अपेक्षाओं के साथ
नश्वर इस देह को... !

दो कविताएं : **सत्यनारायण**

अरी, अक्षरा !

अरी, अक्षरा!
तू है मेरी बढ़ी उम्र का
गीत सुनहरा!

मेरे उजले केश, किंतु
इनसे उजली तेरी किलकारी
तेरे आगे फीकी लगती
चांद–सितारों की उजियारी
कौन थाह पाएगा बिटिया,
यह अनुराग
बड़ा है गहरा!

तू हंसती है, झिलमिल करती
आबदार मोती की लड़ियां
तेरी तुतली–तुतली बोली
छूट रहीं सौ–सौ फुलझड़ियां
दिन हैं ये खिलने–खुलने के
इन पर कहां
किसी का पहरा!

बिन बोए ही उग आए हैं
होठों पर अनबोले आखर
कितने–कितने अर्थ कौंधते
गागर में भर देते सागर
मैं जीवन का वर्ण आखिरी
तू मेरा
अनमोल ककहरा !

सपनों का सच

आती है सपनों में मां
बाबूजी आते हैं।
वैसे तो दोनों को गुजरे
बीत गए बरसों
फिर भी लगता है, वे थे
घर में ही कल–परसों
अब भी उनका संग–साथ
पहले जैसा ही है
रात सुलाती मां
बाबूजी सुबह जगाते हैं !

मां आकर, ज्वर में
तपता माथा सहलाती है
आंखों–आंखों में ही
सारी रात बिताती है
ऐसे में बाबूजी भी
सिरहाने होते हैं
चेहरे पर
आशंकाओं के घन घहराते हैं !

अब भी चूल्हे–चौके में
मां दिख जाती अक्सर
बर्तन–बासन की खन–खन
बजते चूड़ी के स्वर
धीमे–धीमे उठने लगता
धुआं रसोई से
अगरु–गंध से
सांझ –सकारे भर–भर जाते हैं।

अब भी नेह–छोह से भीगा
मां का आंचल है
बाबूजी के लाड़–प्यार का
मीठा संबल है
ठेठ दूध की भाषा
नस–नस में लहराती है
ये सपने हैं
जो सौ–सौ सच को झुठलाते हैं !

तीन ग़ज़लें : **उषाराजे सक्सेना**

एक

परिंदा याद का मेरी मुंडेरी पर नहीं आया
कोई भटका हुआ राही पलटकर घर नहीं आया

सभी ने ओढ़ के चादर उदासी की यही सोचा
शजर पर क्यों बहारों का नया मंजर नहीं आया

उसे डर था कि छूने से कहीं मुरझा न जाए तो
इसी डर से वो नाजुक फूल को छूकर नहीं आया

मुखौटा–दर–मुखौटा थी हंसी, बस इसीलिए ही तो
छुपा था जो मुखौटे में, नज़र खंजर नहीं आया

चुभे हैं दिल मे 'तेरे ऐ' 'उषा' कुछ दर्द के कांटें
है अचरज क्यों उभरकर आह का इक स्वर नहीं आया !

दो

फिज़ा का रंग अब बदला हुआ–सा लगता है
ये सारा शहर ही जलता हुआ–सा लगता है

हरेक शख्स यह कहता हुआ–सा लगता है
लहू का रंग कुछ बदला हुआ–सा लगता है

ये ऐसा दौर है जिसमें कि झूठ जीत गया
जो आज सच है वो हारा हुआ–सा लगता है

ज़रा ये सोचिए क्या बात है कि दुनियां में
हर एक आदमी सहमा हुआ–सा लगता है

हर–एक के दिल में कोई धुंध और धुआं है उषा
ये कैसा वक्त है जो ठहरा हुआ–सा लगता है !

तीन

रात भर काला धुआं उठता रहा
दिल किसी खलिहान–सा जलता रहा

एक बिजली कौंध कर इतना हंसी
एक माझी देर तक सोता रहा

जानता था जो समझ का फलसफा
उसे समय के साथ में चलता रहा

यह 'उषा' किसकी दुआ का था असर
फूल पतझर में भी जो खिलता रहा !



लीला

मदन सैनी

राजस्थानी से अनुवाद : ओम मिश्रा

रेखांकन : पंकज झा

कोई आठ-साढ़े आठ बजे होंगे। मैं अपने कमरे में बैठा विनय की दी हुई बायस्कोप बड़े गौर से देख रहा था। घर के पूजाघर से आ रही घंटी की 'टन-टन' की आवाज की ओर मेरा ध्यान नहीं गया। वहां भगवान बद्रीनारायण की लीला का गुणगान करने में मां ध्यान-मग्न थी।

अचानक आंगन से मां की आवाज सुनाई दी, ''अरे बदरू, क्या अकेला ही भगवान के दर्शन करना चाहता है! इधर ला, जरा मुझे भी तो दर्शन करने दे भगवान बद्रीनाथ के...!' कहती हुई मां कमरे की ओर आने लगी!

मेरे हाथों में थमे बायस्कोप के सारे सुहावने दृश्य अनायास ही अदृश्य हो गए। मेरे हृदय की धड़कन की गति तेज हो गई। मुंह से एक भी शब्द नहीं निकला, मानो जीभ तालु से चिपक गई हो। लेकिन, मैंने बायस्कोप को अपनी हथेलियों में मजबूती से पकड़े रखा...एकदम मजबूती से!

मेरी इस दुर्दशा का मां को थोड़ा-बहुत भी अहसास नहीं हुआ। पास आकर कहने लगी, ''आज कितने वर्ष हो गए, भगवान बद्रीनाथ के दर्शन किए हुए।...तेरे जन्म से पहले, पहली बार 'उनके' साथ भगवान बद्रीनाथ की यात्रा की थी, तब उनके दर्शन करके पुत्र-जन्म की मनौती मांगी थी। उसी मनौती के पुण्य-प्रताप से तेरा जन्म हुआ, तभी तो तेरा नाम 'बदरी' रखा है।''

मां की आंखों में विगत स्मृतियों के दृश्य उभरते जा रहे थे और इधर मेरी नजरों से आगत-विगत सब कुछ ओझल होता जा रहा था।

कुछ रुककर मां फिर बोली, ''जब तू छोटा-सा था...यही कोई सात-आठ वर्ष का, तब तुम्हें आशीर्वाद दिलाने के लिए हम पुनः बद्रीनाथ की यात्रा पर गए थे। उस समय यह ढोलकी सरीखी बायस्कोप मैंने तुझे दिलाई थी। बहुत दिनों तक तू इसकी चाबी घुमा-घुमाकर भगवान के दर्शन करता रहा और मैं इनके दर्शनों से दूर नहीं रही, लेकिन तुम्हारे विवाह के बाद न तो यह ढोलकी तुम्हें याद रही और न ही मुझे। आज अचानक तेरे हाथों में इसे देखकर पिछली सारी बातें एक-एक करके याद आती जा रही हैं। हम पर भगवान बद्रीनाथ की असीम कृपा है- लाओ, थोड़े दर्शन तो मैं भी कर लूं भगवान के!'' कहते हुए मां ने मेरी ओर हाथ बढ़ाया। नहीं-नहीं, मैं नहीं दिखाऊंगा...इसमें कुछ भी नहीं है...रील भी तो नहीं है...यह तो एकदम खाली है, एकदम खाली...!''

मैंने रुक-रुककर मां के सामने पहली बार झूठ बोला और मां की कही हुई बात को सुना-अनसुना कर दिया। इसके अलावा, और कोई रास्ता भी तो नहीं था। मैं मां को कैसे बताता कि जिसे आप भगवान बद्रीनाथ के दर्शनों वाली ढोलकी समझ रही हैं, यह वह नहीं है...यह तो मात्र मेरे लिए ही गोवा से विनय द्वारा लाई गई ढोलकी है, जिसमें गोवा की लीलाएं हैं, भगवान बद्रीनाथ की लीलाएं नहीं। इन लीलाओं को देखकर मां की आस्था को आघात ही लगता। कहां तो भागवत्-लीला और कहां गोवा-लीला। साफ-सुथरे निर्मल पानी से भरी गोवा की नीली-नीली झीलों जैसी सुरम्य- 'स्नान-स्थलियां' और उनमें नंग बदन स्नान करती नवयौवनाओं के

उन्नत अंगों का मादक सौंदर्य-दर्शन मां के मंसूबों पर पानी फेर डालेगा, उनकी सारी उम्मीदें मटियामेट हो जाएंगी। नहीं-नहीं, मां को मना करके मैंने कोई गलती नहीं की है...यदि मां इन दृश्यों को देख लेती, तो अनर्थ हो जाता। मां के मन रूपी मंदिर में बसी मेरी निष्कलंक और सुनहरी छवि कलंकित-बदसूरत हो जाती, जो मेरे लिए असहनीय बात होती।

कुछ पल तो मां मूर्तिवत चुपचाप खड़ी रहीं। उन्हें मेरी बातों पर विश्वास नहीं हुआ। फिर बोली, ''लाओ देखूं तो सही! सचमुच खाली है कि नहीं?''

''हां खाली है, इसमें कोई रील नहीं है, आज शाम तक बाजार से रील लाकर इसमें लगा दूंगा, फिर आराम से दर्शन करना।''

''तो फिर अभी दिखाने में क्या हर्ज है?''

''हर्ज है!'' मैं कुछ तेज आवाज में बोला।

मां मेरे इस रूप पर हकबका गई। उसे स्वप्न में भी उम्मीद नहीं थी कि उसका प्राणों से भी प्यारा बेटा बदरी कभी अपनी मां का इस तरह निरादर भी कर सकता है! मगर सत्य अपनी सारी कड़ुवाहट लिए सामने खड़ा था। –आखिर मां कब तक उस पर विश्वास नहीं करती? और जैसे ही मां को विश्वास हुआ, वह चुपचाप पूजाघर में जाकर भगवान बद्रीनाथ जी के आगे बिछे आसन पर बैठ गई। उसकी आंखों से अश्रुधारा बहने लगी, किंतु मेरा ध्यान तो कहीं और था।

कुछ समय तो मैं उसी उधेड़-बुन में उलझा रहा। अचानक दीवार-घड़ी का पैंडुलम टंकोरा देने लगा। मैंने घड़ी की ओर देखा। सवेरे के दस बज गए थे। आज दफ्तर जाने का मन नहीं था, इसलिए बायस्कोप को भागवत के पीछे छुपाकर छुट्टी का प्रार्थना-पत्र लिखा और उसे दफ्तर में देने के बाद सीधा खिलौना बाजार जा पहुंचा। वहां मैंने एक-एक दुकान छान मारी, लेकिन भगवान बद्रीनाथ के दर्शनों वाली ढोलकी कहीं पर भी नजर नहीं आई। हां, एक-दो दुकानों में उसी तरह के अश्लील दृश्यों वाली ढोलकियां जरूर नजर आईं, जिस तरह के दृश्य गोवा से लाई हुई विनय की ढोलकीनुमा बायस्कोप में थे। भगवान बद्रीनाथ की लीला वाली ढोलकी का बाजार में क्या काम? वह तो न मिलनी थी और न ही मिली।

दिनभर इधर-उधर भटककर शाम को घर की ओर लौटते समय मेरे सिर में भयंकर दर्द हो रहा था। मैंने ऐसी उदासी आज से पहले कभी नहीं भोगी थी। रास्ते में मां का उदास चेहरा बार-बार मेरी आंखों के सामने तैरने लगता था, न मालूम दिनभर में मां ने कुछ खाया-पीया है, या फिर अभी तक भूखी-प्यासी बैठी है? यदि घरवाली को इस बारे में समझा-बुझाकर आता, तो वह अपने-आप सारी बात को संभाल लेती, परंतु उस समय वह किसी काम से घर से बाहर गई हुई थी। मैं उसी उधेड़बुन में उलझा घर पहुंचा।

घर में प्रवेश करते ही मैंने चोरनजरों से पूजाघर की ओर देखा। मेरा श्वास गले में अटकने लगा। मैं घबरा-सा गया...जिस बात का मुझे भय था, वही बात हुई...मां के हाथों में वही बायस्कोप था, जिसकी चाबी घुमा-घुमाकर उसके अंदर वाले दृश्यों को मां एकटक देखे जा रही थी। मेरी उस दशा को मेरा ही मन जानता है। मां के सामने मेरी सारी पोल खुल गई थी।

हे भगवान! मां मन में क्या सोचेगी? मेरे मन में बार-बार यही विचार चक्कर काट रहे थे। कमरे में घुसते ही मैं अपना सिर पकड़कर चारपाई पर बैठ गया। पत्नी से मेरी यह दशा छुपी नहीं रही। रसोईघर से चाय बनाकर मेरे हाथों में थमाती हुई वह दिनभर का हिसाब पूछने लगी– ''आप दिनभर कहां गायब रहे? मुन्ने को दफ्तर भेजा, वहां आपकी छुट्टी की अर्जी दी हुई थी। सवेरे आप मां को क्या कह गए थे? वह दिनभर रोती रहीं!''

पत्नी की शिकायत में क्रोध और धिक्कार के भाव थे, परंतु मैंने उसकी बातों को अनसुनी करते हुए सवाल किया, ''मां ने खाना तो खा लिया होगा?''

''हां, खाना तो खा लिया, मगर अभी कुछ समय पहले ही जब वह तीर्थोंवाली ढोलकी मिली, तब उसके दर्शन करने के बाद...!''

तीर्थोंवाली ढोलकी! मुझे आश्चर्य हुआ– ''तो क्या मां को वह पुरानी बद्रीनाथ दर्शन वाली ढोलकी मिल गई?''

मेरी जिज्ञासा पर पत्नी ने कोई ध्यान नहीं दिया। वह अपनी ही बात कहने में लगी हुई थी, ''आपके जाने के बाद मैं मां के पास गई। मां रो रही थी। उनसे पूछा तो बोली कि जिस भगवान के दर्शन मैंने बदरी को वहां उसके धाम ले जाकर करवाए, आज उनके दर्शन वह अकेला ही करता रहा और मुझे दर्शन कराने से मना कर दिया...क्या इसी दिन के लिए मैंने इसे जन्म दिया था? अब मेरे जिंदा रहने में कोई सार नहीं है। मेरे तो अब इस घर से अन्न-जल के सीर-संस्कार ही पूरे हो गए हैं।''

मैंने किसी तरह मां को समझा-बुझाकर मनाया और मैं उनके ढोलकी वाले भगवान को ढूंढ़ने लगी, परंतु वे कहीं नजर नहीं आए। फिर मैंने सोचा, कुछ समय तक इन्हें भागवत ही सुना दूं, तो शायद मां का मन कुछ हल्का हो।''

''अरे! भागवत के पीछे ही तो मैंने उसको छुपाया था।'' मेरे मुंह से अनायास निकला। मेरा दिल पुनः धड़क-धड़क करने लगा।

''हां, भागवत उठाते ही मेरी नजर ढोलकी पर पड़ी और तब भागवत को वापस उसी स्थान पर रखकर वह ढोलकी मैंने मां को लाकर दे दी। इसमें भगवान के दर्शन करके ही मां ने खाना खाया है और उसके बाद अभी तक बराबर इसमें दर्शन ही करती जा रही हैं!''

मेरे सिर में पुनः हथौड़े बजने लगे। यह अनहोनी तो होनी ही थी, तभी कमरे के दरवाजे के सामने आकर मां रुंधे गले से कहने लगी। उनका स्नेह एवं ममता भरे स्वर अमृत-वर्षा करता-सा जान पड़ा...''तू आ गया बदरी, तुमने तो भगवान की लीला के दर्शन नहीं कराए, लेकिन बहू ने करवा दिए...कैसी सुंदर लीलाएं हैं भगवान की! शांत-निर्मल जमुना जल में गोपिकाएं जल-क्रीड़ाएं कर रही हैं और उनके वस्त्रों सहित भगवान ऐसे अदृश्य हुए हैं, कि कहीं भी नजर नहीं आ रहे हैं। मैं उन्हें दिनभर से ढूंढ़ रही हूं, आखिर जाएंगे कहां? कहीं-न-कहीं तो नजर आएंगे ही। आखिर वे गोपिकाओं को कब तक तड़पाते रहेंगे?''

मां के मुंह से रासलीला का ऐसा लीलामय वर्णन सुनकर मेरे प्राणों में प्राण आए...''न जाने कब तक गोपिकाओं को भगवान तड़पाते रहेंगे, लेकिन मुझे तो आज दिनभर बहुत भटकाते रहे...छकाते रहे...!'' मैं बोला।

''यह सब भगवान की लीला है। वह बहुत कृपालु हैं।'' कहते हुए मां ने अपने दोनों हाथ जोड़कर श्रद्धा से सिर झुका दिया। □

आकाशवाणी और दूरदर्शन के बाल कार्यक्रम

आकाशवाणी और दूरदर्शन के कार्यक्रमों ने बच्चों को बड़ी मात्रा में आकृष्ट किया है। घर में मौजूद छोटे-बक्से में तरह-तरह के चित्रों का उभरना, बोलती हुई अठखेलियां करती हुई तस्वीरें, प्यारे-प्यारे गीत, फुटबाल-हॉकी और क्रिकेट आदि खेलों का सीधा प्रसारण बच्चों के लिए अनुपम आकर्षण का केंद्र बन गए और अभिभावकों को यह शिकायत रहने लगी कि बच्चा टी.वी. के सामने से हटे तभी तो अपनी पढ़ाई की ओर ध्यान दे सकेगा। बाल कार्यक्रमों का विश्लेषण कर रहे हैं **शेरजंग गर्ग**

बच्चों के लिए मुद्रण माध्यम के रूप में पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं के अलावा आकाशवाणी एवं दूरदर्शन के कार्यक्रमों की उपयोगिता को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। आकाशवाणी की छवि एक श्रव्य माध्यम की है तो दूरदर्शन दृश्य भी है और श्रव्य भी। यों बच्चों के लिए कम्प्यूटर और वीडियो गेम आदि भी मनोरंजन, ज्ञानवर्धन एवं कौतुक के माध्यम हैं। मगर इनकी पहुंच देश के करोड़ों बच्चों तक निश्चित ही नहीं है। दुनिया जहान में टी. वी. का छोटा परदा किसी-न-किसी रूप में आकर्षण पैदा करता है। इसी प्रकार आकाशवाणी ने अनेक नाटकों, झलकियों, समाचार बुलेटिनों में करोड़ों श्रोताओं को अपना मुरीद बना रखा है। क्योंकि रेडियो अथवा ट्रांजिस्टर सेट पर आने वाले कार्यक्रम सड़कों, बसों, रेलों, अथवा बाग-बगीचों में बैठे हुए बड़े आराम से सुने जा सकते हैं।

प्रत्येक औसत आय वाला परिवार यहां तक कि झुग्गी-झोंपड़ी में रहने वाले गरीब-गुरबा भी अपना काफी समय टी.वी. के सामने जरूर गुजारता है तथा अपनी रुचि-अरुचि के कार्यक्रम देखता है। आकाशवाणी की स्थिति भी कुछ ऐसी ही है। उसके कार्यक्रमों को कहीं भी बैठ-खड़े होकर, रास्ते चलते हुए सुना जा सकता है। एक जमाना था कि आकाशवाणी और दूरदर्शन के अनेक कार्यक्रम भारतीय श्रोताओं और दर्शकों का ओढ़ना-बिछौना बन गए थे। इनमें आकाशवाणी का, 'हवा महल' और रेडियो सीलोन का 'बिनाका गीत माला' अद्‌भुत रूप से लोकप्रिय थे। इसी प्रकार दूरदर्शन पर 'परिक्रमा' (कमलेश्वर), 'फूल खिले हैं गुलशन गुलशन' (तबस्सुम), 'हम लोग' (मनोहर श्याम जोशी) 'पत्रिका' (कुबेरदत्त) 'आप और हम' (शरद दत्त) फिलहाल कुछ ही नाम गिनाए हैं, के ऐसे कार्यक्रमों की संख्या कई दर्जन से ऊपर जाती है।

जहां तक बाल कार्यक्रमों की बात है, यह निर्विवाद है कि आकाशवाणी और दूरदर्शन के कार्यक्रमों ने बच्चों को बड़ी मात्रा में आकृष्ट किया है। घर में मौजूद छोटे बक्से में तरह-तरह के चित्रों का उभरना, बोलती हुई अठखेलियां करती तस्वीरें, प्यारे-प्यारे गीत, फुटबाल, हॉकी और क्रिकेट आदि खेलों की सीधा प्रसारण बच्चों के लिए अनुपम आकर्षण का केंद्र बन गए और अभिभावकों को यह शिकायत रहने लगी कि बच्चा टी.वी. के सामने से हटे तभी तो अपनी पढ़ाई की ओर ध्यान दे सकेगा। यह मात्र अभिभावकों की सोच बन गई है कि टी.वी. कार्यक्रम देखने वाले बच्चे पढ़ते-लिखते नहीं, अथवा परीक्षा में कम अंक प्राप्त करना आजकल टी.वी. के कार्यक्रमों के कारण हो रहा है। कई माता-पिता ऐसा मात्र इसलिए सोचते हैं कि टी.वी. देखने के शौकीन बच्चे अपना पढ़ने का समय भी टी.वी. देखने में बिता देते हैं तथा पढ़ाई में पिछड़ जाते हैं। मगर इस तथ्य को हम किसी नियम के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते।

आकाशवाणी एवं दूरदर्शन पर ऐसे अनेक कार्यक्रम मेरे देखने में आए हैं, जिनमें विद्यालयों के अनेक कुशाग्र बच्चों को सामान्य ज्ञान ही नहीं, अपितु विशिष्ट ज्ञान और जानकारी वाले प्रश्नों का तुरत-फुरत उत्तर देते हुए पाया गया है। ऐसे कार्यक्रमों में स्कूली बच्चों की जानकारी को देखकर दंग रह जाना पड़ता है। कई बार कुछ प्रश्नों के उत्तर बड़े-बड़ों को ज्ञात नहीं होते, मगर बच्चे अपनी अध्ययनशीलता एवं रुचि के कारण उत्तरों से परिचित होते हैं। दूरदर्शन पर- चलने वाले अनेक पहेली कार्यक्रम (क्विज प्रोगाम) हमारे इस कथन को निश्चय ही पुष्ट करेंगे। आकाशवाणी के ऐसे बाल कार्यक्रम भी बच्चों की रुचि एवं आकर्षण का केंद्र बने हैं और बच्चों ने उनमें बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया है। एक जमाने में अपने नाम के अनुरूप श्री बालकराम नागर बाल कार्यक्रम के प्रोड्यूसर थे। नागर जी ने अनेक श्रेष्ठ बाल कार्यक्रम, नाटक तैयार किए थे, जो अभी भी यदा-कदा प्रसारित होते रहते हैं।

वास्तव में बच्चों के लिए तैयार किए गए कार्यक्रमों को मात्र बच्चे ही नहीं देखते-सुनते, अपितु परिवार के समस्त सदस्य देखते-सुनते हैं। इतना ही नहीं, ऐसे कार्यक्रमों को देखकर बच्चों में प्रतिस्पर्धा और एक-दूसरे से आगे बढ़ने की भावना जागती है। आकाशवाणी के साहित्यिक अंताक्षरी कार्यक्रम में बच्चे श्रेष्ठ कविताओं के अंश सुनाकर इस खेल को आगे बढ़ाते हैं जिससे उत्तम और मनोरम कविताओं को याद करने के प्रति उत्साह जाग्रत

होता है।

इसके विपरीत दूरदर्शन पर तो नहीं अपितु अन्य टी.वी. चैनलों पर प्रचलित फिल्मी अंताक्षरी ने बच्चों को साहित्यिक अंताक्षरी से विमुख कर दिया है। शायद अब तो लोग यह भी भूलते जा रहे हैं कि साहित्यिक अंताक्षरी का आखिर क्या मतलब होता है। हम यह भी जानते हैं कि इसमें दूरदर्शन का कोई दोष नहीं है, विविध टेलीविजन चैनल ही इसके लिए जिम्मेदार हैं, जिन्होंने अपने कार्यक्रमों को सस्ती लोकप्रियता दिलाने के लिए ये हथकंडे अपनाए हैं और संपूर्ण साहित्य-संस्कृति को धूमिल कर दिया है। हम यह भी जानते हैं कि दूरदर्शन उन्हें ऐसे कार्यक्रम प्रस्तुत करने से रोक नहीं सकता लेकिन प्रत्येक दूरदर्शनकर्मी को अथवा चैनलों से जुड़े कलाकारों को यह अवश्य सोचना होगा कि आखिर उनका उद्देश्य क्या है? सिर्फ सस्ता मनोरंजन परदे पर परोसकर मीडिया वर्तमान और आने वाली पीढ़ियों को गुमराह तो नहीं कर रहा है?

इसके बावजूद दूरदर्शन द्वारा बच्चों के लिए प्रस्तुत कार्यक्रमों की उपयोगिता से इंकार नहीं किया जा सकता। अगर उपयोगिता में किसी प्रकार की कमी है तो उसे दूर करके इस सशक्त माध्यम की सही दिशा निर्धारित की जानी चाहिए। आकाशवाणी की भांति दूरदर्शन पर भी साहित्यिक अंताक्षरी का नियमित आयोजन अपेक्षित है। पाठ्यपुस्तकों में मौजूद श्रेष्ठ सर्जनात्मक साहित्य को भी, नाटकों-परिचर्चाओं के माध्यय से पेश किया जा सकता है। इसके अलावा ऐतिहासिक चरित्रों की प्रेरणादायी प्रस्तुति नाटकों अथवा बाल सीरियलों के माध्यम से की जा सकती है। पर्यटन केंद्रों अथवा रमणीय स्थलों के वृत्तचित्र दिखाकर बच्चों को आनंदित किया जा सकता है जिनके बारे में उन्होंने पढ़ा तो है मगर वहां गए नहीं हैं। हां, इस सबके लिए प्रस्तुकर्ताओं में सर्जनात्मक कल्पनाशीलता होनी आवश्यक है।

बाल कार्यक्रमों को अधिक रोचक, ग्रहणशील, सरस, उपयोगी और सम्यक बनाने के प्रयोजन से विभिन्न विद्यालयों से चुने गए बच्चों की भाषण प्रतियोगिता, बाल दिवस संवाद, चर्चाएं अथवा अंताक्षरी का आयोजन बच्चों में नई स्फूर्ति का संचार करेगा और वे निरंतर प्रगति की ओर अग्रसर हो सकेंगे साथ ही, परीक्षा के दिनों में परीक्षा की दृष्टि से उपयोगी कार्यक्रमों की योजना बनाई जा सकती है। कार्यक्रम नियामकों को यह भी देखना होगा कि स्कूल न जाने वाले बच्चों के लिए भी कतिपय कार्यक्रम तैयार किए जाएं।

आकाशवाणी एवं दूरदर्शन की सबसे बड़ी शक्ति है उनका एक ही समय में लाखों-करोड़ों श्रोताओं एवं दर्शकों तक पहुंच पाना। आकाशवाणी पर गूंजने वाले मधुर स्वर एवं दूरदर्शन के परदे पर विभिन्न दृश्यों और रंगों का उभार सधे हुए संवादों का कौशल बच्चों में ही नहीं, बड़ों में भी उत्सुकता जगाता है और दर्शक अथवा श्रोता अनायास ही बहुत कुछ सीखता और जानता चल जाता है। उसकी भाषा में, बोलचाल के अंदाज में, परदे पर आने वाले चरित्रों को देखकर और उनके संवाद सुनकर नया निखार पैदा होने लगता है। कहना होगा कि आकाशवाणी और दूरदर्शन के कार्यक्रम कुछ सिखाने की कोशिश किए बगैर ही बच्चों को बहुत कुछ सिखा सकते हैं।

बच्चों में अच्छे और सच्चे नागरिक बनने की भावना आकाशवाणी और दूरदर्शन के माध्यम से पैदा की जाए, इन कार्यक्रमों का यही प्रथम एवं अंतिम लक्ष्य होता है। पर्यावरण के प्रति सजगता, सद्व्यवहार के प्रति जागरूकता, अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों को समझने की शक्ति विकसित करना ही इन कार्यक्रमों को सम्यक बनाता है। मेरा मानना है कि अतीत में अनेक कार्यक्रमों के माध्यम से यह सब हुआ है। इस सबके बावजूद बच्चों की अपेक्षाएं कम नहीं हुई हैं। उन्हें आकाशवाणी और दूरदर्शन से अब भी बहुत कुछ चाहिए।

यह सर्वविदित है कि पौराणिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि वाले धारावाहिकों ने अपनी रोचक एवं प्रेरक कथाओं को और अधिक विस्तार एवं प्रामाणिकता से समझ पाने की उत्सुकता लगाई है। परिणामस्वरूप *रामायण* एवं *महाभारत* जैसे ग्रंथों की बिक्री में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है। इसी प्रकार भीष्म साहनी के *तमस* और श्रीलाल शुक्ल के 'रागदरबारी' को छोटे परदे पर देखकर सामान्यजनों ने भी इन पुस्तकों को पढ़ा और अपने निजी पुस्तकालयों में सुशोभित किया। मेरा यह सुनिश्चित मत है कि दूरदर्शन पर मनगढ़ंत चरित्रों वाले धारावाहिकों की अपेक्षा प्रामाणिक और श्रेष्ठ ग्रंथों से ली गई कथाओं पर ही काम होना चाहिए और जिस ग्रंथ को आधार बनाया गया हो, उसके लेखक-प्रकाशक का पता भी निःशुल्क विज्ञापित किया जाना चाहिए। यही कदम बाल धारावाहिकों के प्रसंग में भी उठाया जाए तो श्रेष्ठ बाल साहित्य लेखन को बल मिलेगा एवं श्रेष्ठ पुस्तकों के न बिकने की शिकायत भी दूर हो जाएगी।

अंत में मात्र इतना कहना चाहूंगा कि आकाशवाणी और दूरदर्शन, दोनों ही अत्यंत सशक्त जीवंत, संप्रेषणीय और उपयोगी द्रव्य दृश्य माध्यम हैं। आकाशवाणी से तो बच्चों के शैक्षणिक कार्यक्रमों के अंतर्गत पाठ्यक्रमों की पुस्तकों के पाठ भी पढ़ाए जाते हैं, जिन्हें बच्चों द्वारा ज्ञानवर्धन का सशक्त माध्यम समझा ही जाता है। यदि दूरदर्शन भी ऐसा कुछ करेगा तो बच्चों, विद्यार्थियों के लिए मनोरंजन और ज्ञानर्वधन का एक द्वार और खुल जाएगा। फिर ये कार्यक्रम जितनी प्रतिबद्धता, निष्ठा, रुचि और सृजनशीलता के साथ बनाए जाएंगे, उनकी संभावनाओं का उतना ही बेहतर दोहन संभव हो सकेगा। □

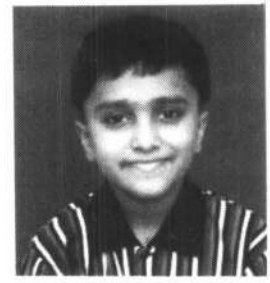
हमारे नन्हें कलाकार

अर्चित जैन



हमारे इस अंक के मुख पृष्ठ के चित्रकार 7 वर्षीय अर्चित जैन हैं। ये नई दिल्ली स्थित सरदार पटेल विद्यालय में दूसरी कक्षा के विद्यार्थी हैं।

आरोह शुक्ला



इस अंक के अंतिम आवरण पर छपे चित्र का चित्रांकन 9 वर्षीय आरोह शुक्ला ने किया है। ये दिल्ली स्थित चिल्ड्रन्स वैली स्कूल में पांचवीं कक्षा के विद्यार्थी हैं।

आज पेड़ बहुत खुश हैं !

दरअसल एक बच्चे के दैनंदिन अनुभवों से रची गई यह डायरी रूपाकार में तो बच्चे जैसी ही है, लेकिन वज़न इसका बहुत ज्यादा है; और बाल-मनोविज्ञान के अनुरूप सामने आई इसकी तमाम बातें हम बड़ों की दुनिया को कुछ और बड़ा करने की प्रेरणा देती हैं। शिवांक की डायरी की विवेचना कर रहे हैं

रामकुमार कृषक

पढ़ना और 'लिखना' हिंदी में दो सामान्य क्रियापद हैं। दोनों परस्पर संबद्ध। लेकिन 'सामान्य' सिर्फ बोलचाल के संदर्भ में, सीखने में नहीं। सीखने के लिए तो शिक्षार्थी को शिक्षक और स्कूल दोनों ही जरूरी हैं, चाहे वे घर में हों या घर से बाहर। किंतु उक्त दोनों क्रियापदों के बीच एक तीसरा क्रियापद भी है, जिसके बिना ये दोनों सार्थक नहीं हो सकते। सोचकर देखिए तो 'सोचने' से अलग वह और कुछ नहीं हो सकता। सीखने के बाद 'पढ़ना' तो संभव है, लेकिन 'लिखना' नहीं। 'लिखने' के लिए तो 'सोचना' ही पड़ेगा, क्योंकि यह लिखना कॉपी-किताब से टीपकर या श्रुतलेख की तरह लिखने से बहुत कुछ अलग है।

इसलिए तो अब किशोर वय और तब के आठ वर्षीय शिवांक ने जब अपनी डायरी लिखना शुरू किया तो लिखा- 'आज से मैंने सोचा'। और जो सोचा, उसे पहले *नई पौध* नामक मासिक पत्रिका ने 14 अंकों में छापा, और अब वही पुस्तक रूप में हमारे सामने है।

आइए, अब यहां इस डायरी के कुछ पन्ने पलटे जाएं लेकिन जरा ठहरकर।...पहले उस परिवेश पर भी कुछ कहा जाना चाहिए, जहां इस बच्चे ने लिखने की प्रेरणा ली। प्रेरणा और परिवेश हमारे बच्चों को निश्चय ही आगे बढ़ाते हैं। घर-परिवार, पास-पड़ोस और स्कूल-बच्चों को संस्कारित करनेवाली यही पहली इकाइयां हैं, और यह काम इन सबके बीच चुपचाप होता रहता है।

दिसंबर सन 1999 बीत रहा था और नई शताब्दी अपनी आंखें खोलने ही वाली थी। तभी एक दिन शिवांक के पिता श्याम सुशील कवि त्रिलोचन की एक किताब लेकर घर पहुंचे। शिवांक ने देखा तो पूछा-नई किताब है न?

-हां, तुम्हारे खरपत्तू बाबा की डायरी है-रोज़नामचा। यही नाम है इसका। पर है यह डायरी। पिता ने कहा।

'पर यह तो छपी हुई है। डायरी तो खाली होती है।' -शिवांक का तर्क था।

'खाली होती है, तभी तो उस पर लिखते हैं। पर अगर उसे छपवा लिया जाए तो किताब बन जाती है।' -इस बार मम्मी ने समझाया।

'अच्छा, पहले चाय पीते हैं। फिर तुम्हें पढ़कर सुनाएंगे।' -पापा ने कहा, और कुछ ही देर बाद शिवांक बहन शिप्रा और मम्मी समेत डायरी सुनने बैठ गए।

खरपत्तू बाबा, यानी त्रिलोचन जी से शिवांक का खासा परिचय था। अब उनकी डायरी सुनते हुए उनके बचपन से भी परिचित हो गए। अरे, इतने बड़े बाबा भी छोटे होते थे! मेरे जितने! उनकी उछल-कूद, गुल्ली-डंडा और कबड्डी वगैरा खेलने की बातें सुनकर शिवांक और शिप्रा को खूब मज़ा आया। और फिर जब नए साल की सुबह हुई तो पापा ने छोटी-छोटी दो सुंदर डायरियां शिप्रा और शिवांक को उपहारस्वरूप सौंप दीं। बस, यहीं से हुई शिवांक की डायरी की शुरूआत, यानी वह उसे लिखने की 'सोचने' लगे। ...बल्कि लिखने भी लगे। उम्र उनकी उन दिनों आठ साल थी और क्लास चौथी। स्कूल-समरविल, वसुंधरा एन्कलेव, दिल्ली-96 । अब वे आठवीं क्लास में हैं। सोचना और लिखना उनका अब भी जारी है, लेकिन पढ़ाई ज़रा ज्यादा घेरती जा रही है। वही परसेंटेज और मैरिट की मारामारी!

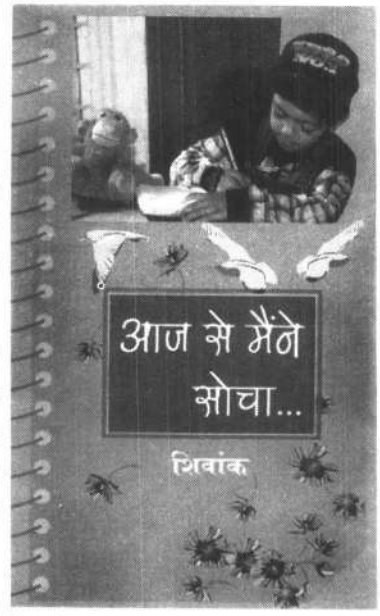
खैर, अब हमें शिवांक के सोचने और लिखने पर गौर करना चाहिए। पहले ही दिन (1 जनवरी, 2000 ई.) 'सबको हैप्पी न्यू इयर' कहने के बाद लिखते हैं- "आज मैंने क्रिकेट खेला। आज मैंने 75 रन मारे और चार विकेट लिए। मैंने आज डांस किया। और मैंने पेट भर के खाना खाया, क्योंकि मुझे पीलिया हो गया था और पहले मैं ठीक से खाना नहीं खा पाता था।" खेलने और खाने के बीच डांस करने की बात महत्वपूर्ण है, और इस बात का अहसास भी कि पीलिया हो तो ठीक से भूख नहीं लगती।

दूसरे दिन शिवांक ने स्वेटर बुनने की सूचना दी है और तीसरे दिन खेलते हुए शेन वॉर्न जैसी बॉलिंग करने की। उसी रोज़ उन्हें गुस्सा भी आता है, "क्योंकि जब हम क्रिकेट खेल रहे थे तो तभी वहां एक अंकल आ गए और आके बीच में खेलने लगे। मैंने सोचा, अभी चले जाएंगे। लेकिन उनने तो हद कर दी! तभी मैं अपना बैट-बॉल ले के चला गया।"

इसी तरह एक दिन (5 मार्च) एक और अंकल आए और बैट छीन लिया। अब मुझे बहुत गुस्सा आया। जब पार्क में नहीं खेलने देते तो बनाते क्यों हैं!" शिकायत एकदम जायज़ है। बच्चों की दुनिया में बड़ों का यह दखल एकदम गलत है, और फिर शिवांक तो अंकल के बहाने पार्क बनाने के औचित्य पर ही सवाल खड़ा कर रहे हैं। यही नहीं, इस घटना से वे इतने

आहत हैं कि तीसरे दिन हमें यह सूचना भी देते हैं- 'जिन अंकल ने मेरा बैट छीन लिया था, उनके ऊपर आज मैंने एक कहानी लिखी', और बाद में उसे *चकमक* में छपने भी भेज दिया। यानी गुस्से का नकारात्मक नहीं, सकारात्मक उपयोग। देखा जाए तो रचनात्मकता का स्रोत भी यही है। तोड़फोड़ नहीं, सृजन।

सृजनात्मकता के ऐसे अनेक बिंदु डायरी में हैं। लेकिन इसे जानने के लिए टी.वी. पर अपने मनपसंद सीरियल-फिल्म वगैरा देखने, दोस्तों से गपियाने, रोज़मर्रा के खाने-खेलने और स्कूली होमवर्क के ब्यौरों में जाना जरूरी नहीं है, हालांकि इस सबसे एक बच्चे की दिनचर्या, उसकी प्राथमिकताओं और सोच के कुछ अनछुए पहलुओं का पता अवश्य चलता है। उदाहरण के लिए 30 मार्च को क्रिकेट मैच में उतरने को लेकर शिवांक लिखते हैं- ''आज हमने क्रिकेट खेला। ईशान आस्ट्रेलिया बना, अरविंद साउथ अफ्रीका बना, मैं वेस्टइंडीज बना। मैंने कहा, इंडिया कोई क्यों नहीं बना। सब बच्चे कह रहे थे फिसड्डी है। मैंने कहा, चलो, मैं ही इंडिया बन जाता हूं। लेकिन मैं ही जीता।'' यह भावना है, फिसड्डी के साथ जुड़ने और उसे विजयी बनाने की! इस तरह के अनेक मार्मिक प्रसंग इस डायरी में हैं, और वे सहज ही किसी बच्चे की तरह खेलते-कूदते हमारे सामने आ जाते हैं।



स्कूल से या टीचर्स से शिवांक को कोई खास शिकायत नहीं है। अपनी क्लास और टीचर्स को लेकर उन्होंने अनेक बेहतर टिप्पणियां की हैं। फिर भी घर और स्कूल में जो फर्क है अथवा बच्चों की स्वाभाविक स्वाधीनता पर उसका जो अंकुश है, उसके प्रति उनकी नापसंदगी कहीं न कहीं झलक ही जाती है।

चार जनवरी को शिवांक ने एक दिलचस्प व्यंग्यात्मक वाक्य लिखा- ''मेरे को स्कूल जाना अच्छा लगता है, क्योंकि आजकल हमारी टीचर एबसेंट रहती हैं।'' एक और ऐसा ही स्कूली प्रसंग ग्यारह फरवरी को दर्ज है। उत्साही अंकल (*चकमक* -संपादक) से मिला तो ''उन्होंने मुझसे पूछा कि तुमने अपनी कविता में स्कूल को कचरे के डिब्बे में डाल दिया है तो तुम्हारे पापा नाराज नहीं हुए। मैंने कहा घर में तो पढ़ता ही हूं, स्कूल भी घर जैसे हो तो वहां पढ़ने में भी अच्छा है।''

शिवांक की इस निर्दोष आकांक्षा में भला कौन बच्चा शामिल नहीं होगा, हालांकि 'घर' जैसे घर आज भी समाज के कम ही बच्चों को नसीब हैं, स्कूल की तो बात ही अलग है। शिवांक बेघर बच्चों के एक ऐसे ही स्कूल को देखकर लिखते हैं- ''पापा के साथ राहुल विद्यालय गया। वहां गरीब बच्चे फ्री में पढ़ते हैं। इनकी कोई यूनिफार्म नहीं होती। जो चाहे वही पहनकर आते हैं। जमीन पर टाट बिछाकर बैठते हैं।'' उलटकर देखें तो यह टिप्पणी निजी स्कूलों के उस फाइवस्टार कल्चर पर भी है, जिसने सरकारी स्कूलों को भी इस देश के गरीब बच्चों के लायक नहीं छोड़ा।

लेकिन चीजें और भी हैं जो बच्चों को परेशान करती हैं। मसलन 25 मार्च को लिखी गई इस बात पर गौर करें- ''हमारी सोसायटी के बगल में एक मंदिर है। आज सुबह से ही वहां लाउडस्पीकर चला रखा है। फिल्मी गानों की धुन पर हरे राम का कैसेट लगा रखा है जो अभी तक चल रहा है। इतना शोर है कि हम लोग टी.वी. की आवाज भी नहीं सुन सकते हैं। ये लोग हमारी परेशानी को समझते ही नहीं।'' यही नहीं, 26 मार्च को भी जब शिवांक अपने मित्र गोलू के साथ मंदिर की ओर गए तो ''वहां आज भी लाउडस्पीकर चल रहा था। कुछ लोग ढोलक बजा रहे थे और कहे जा रहे थे-राम, राम, राम राम राम राम राम राम राम... हम तो भाग आए!''

दरअसल एक बच्चे के दैनंदिन अनुभवों से रची गई यह डायरी रूपाकार में तो बच्चे जैसी ही है, लेकिन वज़न इसका बहुत ज्यादा है; और बाल मनोविज्ञान के अनुरूप सामने आई इसकी तमाम बातें हम बड़ों की दुनिया को कुछ और बड़ा करने की प्रेरणा देती हैं।

उल्लेखनीय यहां यह भी है कि शिवांक का घर-परिवेश साहित्यिक है ओर उन्हें अपने अनेक बड़ों की संगत मिली है। त्रिलोचन, श्रीप्रसाद, सुरेंद्र विक्रम, हरिकृष्ण देवसरे, जयप्रकाश भारती, प्रकाश मनु, कुबेरदत्त, रमेश आज़ाद, राजेश उत्साही, क्षमा शर्मा आदि कवि-लेखकों से तो उनका सीधा संवाद है ही; गुलजार, सर्वेश्वर, रघुवीर सहाय, निरंकार देव सेवक जैसे वरिष्ठ लेखकों की रचनाओं पर यहां दिलचस्प टीकाएं भी हैं। 'बोस्की का पंचतंत्र पर टीका करते हुए उन्हें यह शिकायत भी है- ''डायरी लिखने के बाद पापा मुझे बोस्की का पंचतंत्र सुनाते हैं और मैं सुनते-सुनते सो जाता हूं।'' यानी अगर डायरी लिखने से पहले सुनाते तो उस पर कुछ खास लिखते। लेकिन यहीं शिवांक की यह साहसिक घोषणा भी दर्ज है- ''गुलजार अंकल की अधूरी कविता मैं पूरी करूंगा। फिर उन्हें चिट्ठी लिखूंगा।''

अधूरी कविता कौन-सी है, इसका अलबत्ता डायरी में जिक्र नहीं है; जबकि रघुवीर सहाय की *हिंदुस्तान* में छपी 'फायदा' शीर्षक कविता पूरी कोट कर दी गई है-

जो जेब न होती कुरते में
तो पैसे भला कहां धरते
जो घास न होती धरती पर
तो गदहे-घोड़े क्या चरते...!

वगैरा-वगैरा। लंबी और दिलचस्प कविता है यह। इसी प्रकार शिवांक सर्वेश्वर की *बिल्ली के बच्चे, घोड़े का गीत* और *नत्थूसिंह और नत्थूखान* जैसी कविताओं के प्रति भी अपनी पसंदगी जाहिर करते हैं। विनय दुबे की *छुटकी गिलहरी* किताब भी उन्हें पसंद आती है।

क्षमा शर्मा के उपन्यास *होमवर्क* पर तो वे लंबी टिप्पणी करते हैं, और अंत में उसके कथा चरित्रों से एकमेक होते हुए यह भी लिखते हैं कि ''इस उपन्यास को सुनते हुए लगता था मुझे कि बादल की जगह मैं हूं। और शिप्रा दीदी छोटी-सी काकुल बन गई हैं।''

त्रिलोचन से शिवांक की गहरी छनती है। वह उन्हें गुड डे बिस्किट

खिलाते हैं, उनका रेखाचित्र बनाते हैं और लिखते हैं- ''खरपत्तू बाबा के साथ मेरी बहुत बातें हुईं। मैंने उनका इंटरव्यू लिया। मैंने उनसे बहुत सारे प्रश्न पूछे। खरपतू बाबा की दादी बहुत छोटी थी। वे हमें बहुत दिनों के बाद मिले थे। मैंने बाबाजी को जनवरी 2000 की *चकमक* दी। इसमें मेरी भी कविता पहले पन्ने पर छपी है। मेरी कविता का नाम है- 'पापा ऐसा नहीं हो सकता क्या?''' लेकिन यहीं एक दिलचस्प सूचना और भी है- ''फिर पापा मुझे एक कार्यक्रम में ले गए जहां नामोर सिंह, दिनेश नंदिनी, डालमिया की किताब पढ़कर सुना रहे थे।'' नामवर नहीं, 'नामोर'! और बोलने के बजाय उनका किताब पढ़कर सुनाना! जाहिर है, शिवांक के मन में सिर्फ सरलता है, हम बड़ों के जैसे अन्यथा भाव नहीं। जो देखा सो लिखा; और यही इस डायरी की विशेषता है। भाषा में जो सहजता, संजीदगी और कसावट है, वह हमें चकित किए बिना नहीं रहती। बनावट और किसी भी तरह के खोट की यहां कोई जगह नहीं है। एक दिलचस्प टिप्पणी कुबेरदत्त को लेकर है। संदर्भ विश्व पुस्तक मेले का है- ''आज मुझे कुबेरदत्त अंकल के साथ किताबों के ऊपर डाका डालना था। कुबेर अंकल किताबों को लूटने वाले डाकू हैं। मुझे शाम को मिले तो बोले, कल तुम भी मेरे साथ रहना और मेरे साथ डाका भी डालना। कुबेर अंकल ने कहा कि उनके घर में एक बिल्ली है जो नाचती भी है और गाना भी गाती है।''

अंत में थोड़ी-सी चर्चा रिश्तों की, जो एक बच्चे के समुचित विकास में सर्वाधिक महत्व रखते हैं। शिवांक महानगर का हिस्सा हैं, लेकिन देहात से भी उनका जुड़ाव है। गांव से दादा आते हैं तो पोते की जिज्ञासाएं अनंत हो उठती हैं। आपका जन्म कब हुआ? 1936 में। पेड़ पर चढ़ते थे? हां। पापा डांटते थे? हां। पापा को कौन डांटता था? दादी। स्कूल जाते थे? नहीं। क्यों? दादी कहती थीं कि ये स्कूल नहीं जाएगा। इसके बाद शिवांक दादा के कुएं में गिरने और उससे उन्हें निकाले जाने का बेहद कथात्मक वर्णन करते हैं और यह भी बताते हैं कि पढ़ने में वह ''बहुत बुद्धू थे। उनके मास्टरजी कहते थे, दाहिने हाथ से लिखो, लेकिन वो भूल जाते थ कि कौन-सा दाहिना है।''

शिवांक शायद हंसते हैं- दादा के उस सीधेपन पर। उनके कहे बुद्धू भी कहते हैं। लेकिन 29 मार्च को खुद बुद्धू बन जाते हैं- ''आज मम्मी हॉस्पिटल गई थीं। हम लोग भी इतने बुद्धू हैं, सुबह पानी भरना भूल गए। दूध लाना भूल गए। घर में थोड़ा-सा ही दूध था जब हमने गरम करने के लिए रखा। अब हम लोग बातों में फंस गए और सारा दूध जल गया। हमें तो कुछ याद ही नहीं रहता, मम्मी को सब कैसे याद रहता है!''

जाहिर है, यह मम्मी की ही खासियत है। लेकिन पापा? पापा की भी कोई खासियत होगी ही। इसकी जानकारी वह हमें 6 मार्च को ही दे चुके हैं- ''आज हमें मम्मी स्कूल छोड़ने गई थीं, क्योंकि पापा बीमार हो गए हैं। मम्मी तो बिलकुल चुप-चुप चलती हैं। जब कुछ पूछोगे, तभी बोलेंगी। जब पापा छोड़ने जाते हैं तो ज्यादा मजा आता है। क्योंकि हम पापा से पूछते रहते और पापा हमसे। कभी चिड़ियों के बारे में बताते हैं, कभी फूलों के बारे में। कभी पेड़ों को झूमते हुए देखते हैं तो कहते हैं, आज पेड़ बहुत खुश हैं।''

सचमुच, फूलों और पेड़ों को खुश होते हुए देखना बच्चों और बड़ों, दोनों की ही खुशियों का प्रतिबिंबन है। उम्मीद है, शिवांक जैसे अनेक बच्चे इन्हें और अधिक विस्तृत करेंगे। □

बच्चों के दिल की बात...

पृष्ठ 13 से आगे

इसके जरिए वे अपने समय की विडंबनाओं और अंतर्विरोधों को भी अपने नायाब अंदाज में उजागर करते चलते हैं। इस लिहाज से देखें, तो *ननकू का पाजामा* में हरिपाल त्यागी का उद्देश्य महज बच्चों के लिए दिलचस्प कथा-कृति की रचना करना ही नहीं है, बल्कि वे उन्हें उनके समय और समाज की विडंबनाओं से जोड़ने का जोखिम भी उठाते हैं।

क्षमा शर्मा का बाल उपन्यास *रंजन चले साथ-साथ* भी बच्चों के अंदर छिपी कलात्मक और कुछ नया रचने-गढ़ने की संभावनाओं की अपने ढंग से खोज करता है। उपन्यास के मुख्य पात्र हैं दो छोटे बच्चे-रजनी और सोमेश। वे भाई-बहन हैं, पर उपन्यास में वे शरारती दोस्तों जैसे अधिक लगते हैं। क्षमा शर्मा का एक अन्य उपन्यास *होमवर्क* काफी अलग ढंग का उपन्यास है जिसमें *होमवर्क* के कुछ नए ही अर्थ खुलते हैं।

इधर के बाल उपन्यासों में आज का बदला हुआ समय और उसकी समस्याएं खुलकर सामने आ रही हैं। खासकर पर्यावरण को लेकर बाल उपन्यास लेखकों में काफी सजगता आई है और कई ऐसे उम्दा उपन्यास लिखे गए हैं, जो बाल पाठकों में सचमुच पर्यावरण की चेतना पैदा करते हैं। यह दीगर बात है कि पर्यावरण की समस्या को आधार बनाकर लिखे गए उपन्यासों में कुछ सिर्फ सतह पर रह जाते हैं या फिर स्थूल ढंग से ही यह समस्या उठाते हैं, जबकि अच्छे उपन्यास लेखकों की कृतियों में पर्यावरण की रक्षा का विचार एक सूक्ष्म अंतर्दृष्टि के साथ सामने आता है, इसलिए अधिक असरदार भी लगता है। खासकर देवेंद्र कुमार का उपन्यास *चिड़िया और चिमनी* इस समस्या को इतनी संजीदगी से उठाता है कि उससे बाल उपन्यास को एक नई शक्ति ही नहीं, बल्कि एक अलग पहचान और अर्थवत्ता भी मिल जाती है। देवेन्द्र कुमार के एक और बाल उपन्यास *पेड़ नहीं कट रहे हैं* (1989) के केंद्र में भी पर्यावरण की समस्या है। हालांकि आगे चलकर इसमें कई और समस्याओं के ओर-छोर जुड़ते चले जाते हैं।

नीरू के बाल उपन्यास *हरियाली में खुशहाली* भी पर्यावरण की समस्या को लेकर लिखा गया है। यह उपन्यास *चिड़िया और चिमनी* की तरह कलात्मक और बहुत अधिक गठा हुआ भले ही न हो, पर बाल पाठकों को सहज जीवन, प्रकृति और पर्यावरण के बारे में जानकारी देने के साथ-साथ भीतर से सजग बनाने का भी काम करता है।

कुल मिलाकर हिंदी बाल उपन्यास का परिदृश्य बहुत उत्साह जनक भले ही न हो, तो भी इतना तो बेशक कहा जा सकता है कि हिंदी में दर्जनों ऐसे बाल उपन्यास हैं जो अलबेले दोस्तों की तरह बाल पाठकों के कंधे पर हाथ रखकर उन्हें अपने साथ-साथ अनंत क्षितिजों और अनोखी दुनियाओं की खोज-यात्राओं पर ले जाते हैं। ऐसे बाल उपन्यास भी अब हिंदी में लिखे जाने लगे हैं, जिनमें एक ओर बच्चे के मन के भय और दबाव, सपने और इच्छाएं हैं, तो दूसरी ओर कुछ कर गुजरने की उनकी महत्वाकांक्षाओं को भी वहां आकर आश्रय मिलता है। बाल पाठकों को आस-पास के परिवेश और उसकी समस्याओं से परचाने वाले उपन्यास भी हैं। तो भी शायद अभी बहुत कुछ किया जाना बाकी है। बाल लेखक इधर आएं, तो उन्हें मालूम पड़ेगा कि अभी सृजनात्मक संभावनाओं की एक बड़ी जमीन उनके इंतजार में है, जिसमें नई कल्पनाशीलता के बीज डालकर, नए सपनों की फसल उगाई जानी है। □

कालू

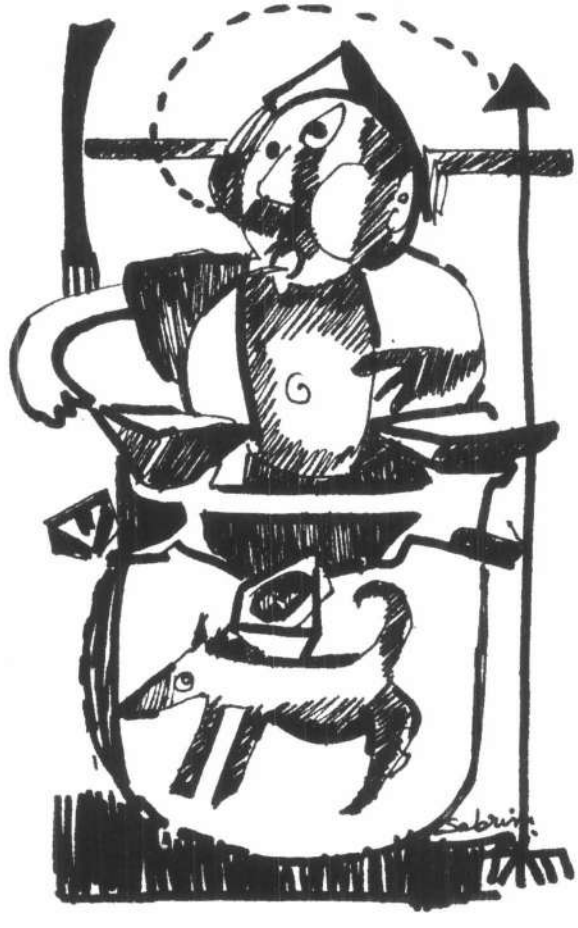
सुशान्त सुप्रिय

रेखांकन : सबरीना

कुत्तों से दत्ता साहब को सख्त चिढ़ थी। नफरत थी...एलर्जी थी। पर गली का कुत्ता कालू था कि दत्ता साहब की इस चिढ़ की परवाह ही नहीं करता था। जैसे ही दत्ता साहब बाहर जाने के लिए दरवाजा खोलते, कालू को सामने पाते। कालू को देखते ही दत्ता साहब का गुस्सा आसमान छूने लगता। उन्होंने कालू को डराने-धमकाने, गली से बाहर खदेड़ने की बहुत कोशिश की, पर कालू था कि पिछली घटना भूलकर दत्ता साहब के मकान के दरवाजे पर फिर मौजूद हो जाता। दत्ता साहब उसे छड़ी दिखाते। वह छड़ी की मार के दायरे से बाहर रहते हुए पूंछ हिलाता। कालू के पूंछ हिलाते रहने से दत्ता साहब और चिढ़ जाते। दो-एक बार उन्होंने पास पड़े पत्थर और पैरों में पहनी चप्पलें उतार कर कालू को दे मारीं पर दत्ता साहब का निशाना हर बार चूक जाता। उधर कालू चप्पलों और पत्थरों को छकाने की कला में और पारंगत होता जाता। जब तक दत्ता साहब गली से बाहर नहीं चले जाते, कालू उनसे एक मर्यादित दूरी बनाए रखते हुए सतर्कतापूर्वक उन्हें गार्ड ऑफ ऑनर देता चलता। दत्ता साहब का मन करता कि वे अपने सिर के बाल नोच लें।

कुछ महीने पहले तक दत्ता साहब के सामने यह समस्या नहीं थी। वह रोजाना सुबह-शाम टहलने जाते थे। रात का खाना खाने के बाद भी उन्हें गली के दो-तीन चक्कर लगाने की आदत थी। पर बुरा हो गली के नए गोरखा चौकीदार का। उसने न जाने कहां से भटकते हुए आ पहुंचे कालू को अपने पास पाल लिया।

गली के बाकी लोगों को कालू से कोई परेशानी नहीं थी। गली की महिलाएं अपने-अपने घरों का बाकी बचा जूठा सुबह-शाम कालू को खिलाने लगीं। ऐसी आवभगत छोड़कर कालू भला और कहीं क्यों जाता? दत्ता साहब को दुःख इस बात का था कि उनकी पत्नी भी गली की महिलाओं की तरह सुबह-शाम कालू को खिला-पिलाकर हट्टा-कट्टा बनाने वालों की सूची में शामिल थी। दत्ता साहब के लिए यह बात असहनीय थी। यह ऐसा था जैसे कोई सगा-संबंधी दुश्मन की फौज में शामिल हो जाए। उन्होंने पहले पत्नी को समझाया, फिर कई बार उसे डांटा भी। पर पत्नी थी कि उनकी आंख बचाकर कालू को बचा-जूठा खिला ही आती।



दत्ता साहब ने एक-दो बार चौकीदार को भी डांटा कि वह न जाने कहां से इस आवारा कुत्ते को पकड़ लाया है। पर चौकीदार का कहना था कि कालू के होते कोई चोर-उचक्का गली में नहीं घुस सकता। यह सुनकर दत्ता साहब को और गुस्सा आया। उन्होंने कहना चाहा-अबे साले, चौकीदारी के लिए तुझे रखा है कि कुत्ते को! अगर कालू ने ही चौकीदारी करनी है तो तेरी तनख्वाह भी कालू को ही दे देते हैं। पर चौकीदार के मुंह लगना उन्होंने ठीक नहीं समझा।

दो-चार बार दत्ता साहब ने इस मुद्दे पर पड़ोसियों और गली वालों से भी बात की। पर बात करने पर पता चला कि गली में अन्य किसी को भी कालू से कोई शिकायत नहीं थी। कुछ लोगों ने तो कालू की तारीफ में कसीदे भी पढ़े-बड़ा सीधा कुत्ता है, जो मांस-मछली को तो सूंघता तक नहीं। छोटे बच्चे इसकी पूंछ खींच लेते हैं पर यह गुर्राता तक नहीं। पर गली में आने-जाने वाले अजनबी लोगों पर यह पूरी निगाह रखता है -वगैरह।

दत्ता साहब समझ नहीं पा रहे थे कि कैसे कालू से छुटकारा पाएं। गुस्से में उनके मन में बड़े भयंकर खयाल आते। क्या वह कालू को जहर मिला खाना दे दें? जीव-हत्या? ना बाबा ना। उनका मन इस खयाल को उसी समय खारिज कर देता। क्या नगर निगम वालों को फोन कर के

कह दें कि उनकी गली में काले रंग का पागल कटहा कुत्ता दहशत मचाए हुए है? पर उनकी बात का समर्थन कौन करेगा? उन्हें इस समस्या का कोई हल दिखाई नहीं देता!

फिर एक ऐसा समय आया जब कालू दत्ता साहब को नींद में भी पीड़ित करने लगा। उनके सपनों में भी कालू आकर उन्हें सताने लगा। वह कोई बड़ा अच्छा-सा सपना देख रहे होते। सपने में इंद्रधनुष होता, तितलियां होतीं, मेमने होते, हंस होते। अचानक किसी झाड़ी के पीछे से कालू उदित हो जाता। फिर उसका आकार बढ़ने लगता। वह एक बड़े भालू के आकार का हो जाता। उसकी आंखें भेड़ियों की तरह खूंखार लगने लगतीं। उसके पंजे और दांत शेर जैसे बड़े और नुकीले हो जाते। उसकी भौंक दहाड़ में तब्दील हो जाती। और वह दत्ता साहब को खाने दौड़ता। और सर्दियों की रात में भी पसीने-पसीने हो गए दत्ता साहब इस दु:स्वप्न से डरकर उठ जाते।

इसी तरह कुछ महीने और बीत गए। एक सुबह दत्ता साहब दफ्तर जाने के लिए घर से निकले और कालू आदतन उनके साथ हो लिया। दत्ता साहब तो पहले ही कालू से जन्म-जन्म के खीझे हुए थे। गली के मोड़ पर उन्हें एक पत्थर का टुकड़ा दिखा। उन्होंने फुर्ती से पत्थर उठाकर कालू को दे मारा। पत्थर की मार से बचने के चक्कर में कालू इधर-उधर लपका। बदकिस्मती से वह सामने से आ रही एक बस की चपेट में आ गया। ड्राइवर ने ब्रेक लगाई पर तब तक बस कुत्ते को कुचल चुकी थी। एक किंकियाहट हुई और कालू के प्राण-पखेरू उड़ गए।

दत्ता साहब सन्न रह गए। सड़क पर कालू की क्षत-विक्षत लाश पड़ी थी। चारों ओर खून बिखरा हुआ था। दत्ता साहब सोच नहीं पा रहे थे कि वे खुश हों या शोक मनाएं। अचानक घटी इस घटना ने उन्हें भीतर तक झकझोर दिया। उनकी आंखों में आंसू आ गए। वह दफ्तर नहीं जा पाए। वापस घर लौट गए। उस दिन उनसे खाना भी नहीं खाया गया।

दत्ता साहब कालू से छुटकारा तो चाहते थे पर कालू की ऐसी नियति देखकर वह भी सिहर उठे थे। कई दिन बीतने पर भी वह इस घटना से नहीं उबर पाए। कालू के नहीं रहने पर उन्होंने महसूस किया कि उन्हें कालू की आदत पड़ गई थी। कभी-कभी आप जिससे नफरत करते हैं, आपको उसकी भी आदत पड़ जाती है। यदि अचानक वह नहीं रहे तो आपके जीवन में एक खालीपन, एक सूनापन आ जाता है। आपके जीवन से जैसे कुछ छिन जाता है। इस लिहाज से नफरत और प्यार एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

कुछ दिनों बाद मोहल्ले वालों ने पाया कि दत्ता साहब कहीं से एक काला पिल्ला ले आए। उन्होंने उसका नाम रखा था- कालू! □

प्राप्ति स्वीकार

1. दस्तखत पलाश के (कविताएं) : बृजनाथ श्रीवास्तव; गौरव प्रकाशन, कानपुर, पृष्ठ सं. : 135; मूल्य : 150 रुपये।

2. उगते नहीं उजाले (बाल कथा) : प्रबोध कुमार गोविल; राही सहयोग प्रकाशन संस्थान; निबाई टोंक (राजस्थान); पृष्ठ संख्या : 46, मूल्य : 25 रुपये

3. टुकड़ा-टुकड़ा समुन्दर (कविताएं) : श्रीकांत प्रसून; साहित्य संसार, मोतिहारी (बिहार) पृष्ठ : 110; मूल्य : 100 रुपये

4. सत्ताधर की कंदराएं (कहानियां) : सुकीर्ति प्रकाशन, कैथल (हरियाणा); पृष्ठ : 120; मूल्य : 100 रुपये, 50 रुपये (पाठक संस्करण)

5. भारतीय चित्रकला का इतिहास (संदर्भ पुस्तक) : तारक नाथ बड़ेरिया; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली; पृष्ठ : 112; मूल्य : 150 रुपये

6. मोनालिसा (कथा संग्रह) : मोहन कुमार सरकार; प्रकाशक: मोहन कुमार सरकार, बेली रोड, पटना (बिहार); पृष्ठ संख्या : 127; मूल्य : 77 रुपये

7. आंजनेय (कविताएं) : कोमल चंद्र केसरवानी; हिंदी सेवी महासंघ, इंदौर; पृष्ठ संख्या : 64; मूल्य : 50 रुपये

8. रेत के हाशिए पर (कविता संग्रह) : तारा नंदन 'तरुण'; प्रभा प्रकाशन, त्रिवेणीगंज, सुपौल (बिहार); पृष्ठ संख्या: 73; मूल्य : 52 रुपये

9. शब्द आक्सीजन है (कविता संग्रह) : हरनाम शर्मा; प्रज्ञा प्रकाशन मंच, नई दिल्ली; पृष्ठ संख्या : 80 रुपये; मूल्य : 80 रुपये

10. मन का चांद (कविता संग्रह) : श्रीमती पुष्पलता; कुसुम प्रकाशन, आदर्श कालोनी, मुजफ्फरनगर-251001; पृष्ठ संख्या : 96; मूल्य : 100 रुपये

11. चांदनी की व्यथा (कविता संग्रह) : घमंडी लाल अग्रवाल; साहित्य मंदिर, 2620 (प्रथम मंजिल), नई सड़क, दिल्ली-110 006; पृष्ठ संख्या: 112; मूल्य : 125 रुपये

12. बीसवीं सदी तथा अन्य कविताएं (कविता संग्रह). : रमाकांत श्रीवास्तव; प्रकाशक : विनीत कुमार श्रीवास्तव-रुक्मिणी, श्याम सुंदरी स्मृति संस्थान, एल-6/96, सेक्टर-एल, अलीगंज; लखनऊ-226 024; पृष्ठ संख्या : 64; मूल्य : 60 रुपये

13. मैं उगते सूरज का साथी (कविता संग्रह) : डा. देवेंद्र आर्य; प्रकाशक : साहित्य सहकार, दिल्ली; पृष्ठ संख्या : 143; मूल्य : 150 रुपये

14. राष्ट्र नेता डा. बी.आर. अंबेडकर : नीतीश विश्वास; अनुवाद : सुशील गुप्ता; वाणी प्रकाशन, 21-ए दरिया गंज, नई दिल्ली-110 002; पृष्ठ संख्या : 82; मूल्य : 100 रुपये

15. संसद : लोकतंत्र या नजरों का धोखा (निबंध संग्रह) : पुण्य प्रसून वाजपेयी; वाणी प्रकाशन; पृष्ठ संख्या :213; मूल्य : 250 रुपये।

16. बाजार के बीच : बाजार के खिलाफ-भूमंडलीकरण और स्त्री के प्रश्न : प्रभा खेतान; वाणी प्रकाशन; पृष्ठ संख्या : 253; मूल्य : 250 रुपये।

17. सपनों का बाजार (कविता संग्रह) : प्रभात पाण्डेय; प्रतिध्वनि 2002, सर हरिराम गोयनका स्ट्रीट, कोलकाता-700007; पृष्ठ संख्या : 64; मूल्य : 100 रुपये।

18. धिरवा (अवधी लोकगाथा) : डा. अशोक 'अज्ञानी'; लोकायन प्रकाशन, बछरावां, रायबरेली (उ.प्र.) 229 301; पृष्ठ संख्या : 60; मूल्य : 50 रुपये।

बाल फिल्में और बाजार का चक्रव्यूह

इसमें संदेह नहीं कि भारत में बाल-फिल्मों का इतिहास एक मायने में चिल्ड्रन्स फिल्म सोसाइटी ऑफ इंडिया का ही इतिहास है क्योंकि यही देश की एक मात्र संस्था है जिसने अपने सीमित संसाधनों के साथ बाल सिनेमा आंदोलन को नई जीवन-ऊर्जा प्रदान की और अपने ढंग से उसे आगे बढ़ाया। हालांकि कुछ निजी फिल्म निर्माता/निर्देशक भी समय-समय पर अपने तरीके से सक्रिय रहे और उन्होंने कम संख्या में सही पर बूट पालिश, जागृति, हम पंछी इक डाल के, जैसी यादगार बाल फिल्में देकर बाल फिल्मों के इतिहास में काफी कुछ नया जोड़ा। बाल फिल्मों का मूल्यांकन* रमेश तैलंग *द्वारा

पिछले दिनों मीडिया में बाल-फिल्मों के बारे में कुछ मशहूर फिल्मी हस्तियों के परस्पर विरोधी बयान सामने आए।

कोई मिल गया जैसी प्रयोगशील, और चर्चित फिल्म के चहेते नायक-अभिनेता हृतिक रोशन ने जहां मुंबई के एक बाल-क्लब द्वारा 'मोस्ट दमादम अवार्ड' से सम्मानित किए जाने के अवसर पर बच्चों के लिए फिल्म बनाने की अपनी दिली इच्छा जाहिर की और कहा कि भारत में बाल फिल्मों का बहुत बड़ा बाजार मौजूद है, जिसे ठीक तरह से कभी नहीं समझा गया, वहीं इसके विपरीत एक अलग संदर्भ में अभिनेता रंधीर कपूर, जिनके पिता स्व. राज कपूर ने सन् 1957 में आर.के. बैनर तले 'अब दिल्ली दूर नहीं' जैसी विख्यात बाल-फिल्म बनाई थी, का बयान आया कि उनका इस बैनर तले ऐसी और फिल्म बनाने का फिलहाल कोई इरादा नहीं। उनका मानना था कि बाल फिल्में चलती नहीं और न ही उनके लिए कोई बाजार है।

गौर से देखें तो ये मात्र दो फिल्मी हस्तियों के विरोधी बयान नहीं बल्कि ये वे दो-ध्रुवीय धाराएं हैं जिनके बीच से होकर बाल फिल्मों ने लगभग आधी सदी का सफर तय किया है। यहां एक सवाल यह भी उठता है कि क्या बाल फिल्मों का निर्माण, वितरण और प्रदर्शन सिर्फ बाजार की शर्तों पर तय किया जाना चाहिए? अगर हां, तो फिर उस खूबसूरत नारे का क्या होगा जिसे शुरू से यह कहकर बार-बार उछाला जाता रहा है कि मनोरंजन बच्चों का अधिकार है। वैसे यह दुख का विषय है कि विश्व में हर वर्ष सबसे अधिक फिल्में बनाने का गौरव हासिल करने वाले देश में आज पचास सालों के बाद भी एक हजार अच्छी बाल फिल्में नहीं है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो भारत में सबसे पहले बाल फिल्म बनाने का श्रेय स्व. श्री वी. शांताराम को जाता है, जिन्होंने सन् 1930 में रानी साहेबा बनाई। जाहिर है कि भारतीय सिनेमा का यह मूक काल था और चूंकि इस फिल्म का ज्यादा विवरण नहीं मिलता इसलिए सही मायने में भारत में बाल-फिल्मों की शुरूआत बीसवीं शती के पांचवें दशक से मानी जानी चाहिए। जब तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के प्रयासों से सन 1955 में केंद्रीय सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के अंतर्गत चिल्ड्रन्स फिल्म सोसाइटी ऑफ इंडिया (यानी सी.एफ.एस.आई. जिसका वर्तमान नाम नेशनल सेंटर ऑफ फिल्म्स फॉर चिल्ड्रन एंड यंग पीपुल है) की स्थापना हुई। सी.एफ.एस. आई ने अपने जन्म के साथ ही सन् 1956 में एक साहसिक कथा पर आधारित 'जलदीप' नामक बाल फिल्म बना कर एक नया प्रतिमान स्थापित किया जिसे सन् 1957 में वेनिस में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय बाल फिल्म समारोह में प्रथम पुरस्कार मिला।

इसमें संदेह नहीं कि भारत में बाल-फिल्मों का इतिहास एक मायने में चिल्ड्रन्स फिल्म सोसाइटी ऑफ इंडिया का ही इतिहास है क्योंकि यही देश की एक मात्र संस्था है जिसने अपने सीमित संसाधनों के साथ बाल सिनेमा आंदोलन को नई जीवन-ऊर्जा प्रदान की और अपने ढंग से उसे आगे बढ़ाया। हालांकि कुछ निजी फिल्म निर्माता/निर्देशक भी समय-समय पर अपने तरीके से सक्रिय रहे और उन्होंने कम संख्या में सही पर 'बूट पालिश', 'जागृति', 'हम पंछी इक डाल के', जैसी यादगार बाल फिल्में देकर बाल फिल्मों के इतिहास में काफी कुछ नया जोड़ा।

यहां यह भी नहीं भूलना चाहिए कि भारतीय सिनेमा के इतिहास का यह वह दौर था जब फिल्म निर्माण के पीछे तकनीक तथा व्यावसायिक होड़ से कहीं ज्यादा सामाजिक एवं राष्ट्रीय मूल्यों को प्रचारित एवं प्रसारित करने की भावना काम कर रही थी। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो इस दौर में 'टेक्नॉलोजी पीछे थी और 'आंइडियालोजी' आगे। पर चूंकि फिल्म निर्माण आखिर में है तो उद्योग ही इसलिए, उसमें विक्रेता, खरीदार और बाजार के त्रिकोण की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता।'

जहां तक बाल फिल्मों का सवाल है, वे जिस दृष्टि और जिस छोटे बजट के साथ बनाई जाती हैं, उनसे ज्यादा व्यावसायिक लाभ कमाने की बात



फिल्म नसीम का एक दृश्य

तो सोची भी नहीं जा सकती। बाल फिल्मों के प्रति वितरकों की उदासीनता के पीछे अनके कारण रहे हैं पर उनकी छानबीन करने से पहले अच्छा होगा कि बाल फिल्म के अपने मुहावरे के बारे में कुछ चर्चा करली जाए।

बाल फिल्म दरअसल है क्या? यह सिर्फ बच्चों की फिल्म है जिसमें सभी मुख्य पात्र बच्चे होते हैं या फिर बच्चों के लिए बनाई गई ऐसी फिल्म जिसमें मुख्य पात्र भले ही बड़े हों पर उसमें बच्चों के लिए मनोरंजन भरपूर हो। *मुन्ना कुकडू कूं, दोस्त मगरमच्छ, आज का रॉबिनहुड, अनोखा अस्पताल, मुझसे दोस्ती करोगे, कभी पास कभी फेल* या *हाथी का अंडा* जैसी फिल्में अगर बाल फिल्में है तो *मिस्टर इंडिया, गायब,* या *जनंतरम-मनंतरम* क्या इसलिए बाल फिल्में नहीं है क्योंकि उनके मुख्य पात्र बच्चे नहीं हैं, भले ही वे बच्चों को कितनी अधिक पसंद क्यों न आई हों?

ये कुछ ऐसे सवाल हैं जिनका हल बड़ों के साथ-साथ स्वयं बच्चों को भी ढूंढना होगा।

एक फिल्म से बच्चे क्या-क्या अपेक्षाएं रखते हैं इस सवाल का हल ढूंढना आसान नहीं।

इस संदर्भ में मैं *टाइम्स ऑफ इंडिया* (दिसंबर 2002) के एक पुराने अंक में प्रकाशित पियाली बनर्जी द्वारा की गई एक 'न्यूज स्टोरी-चिल्ड्रन फिल्म्स नीड टू ग्रो अप' के अंश का उल्लेख करूंगा जिसमें एक दस साल का बच्चा अपनी नाक पर चश्मा ठीक करते हुए कहता है कि- 'मैं बाल फिल्में नहीं देखता। वे बहुत छोटे बच्चों के लिए होती है और मैं काफी बड़ा हो चुका हूं।' दस साल के इस बच्चे का जवाब बाल फिल्म निर्माताओं के लिए एक बड़ी चुनौती है। शायद इसीलिए ह्रतिक रोशन जैसे अभिनेता कहते है कि हमें सिर्फ बच्चों के लिए फिल्मे बनाने की अपेक्षा ऐसी फिल्में बनाने की अधिक जरूरत है जो बड़ों के साथ-साथ बच्चों को भी आकर्षित कर सकें।

बाल फिल्मों के साथ सबसे बड़ा संकट है उनके कम बजट का, जो समान्यत: दस-बीस लाख से लेकर 30-40 लाख के बीच में होता है। *मकड़ी* फिल्म अवश्य एक अपवाद है जिसका बजट अनुमानत: एक से डेढ़ करोड़ रुपये की सीमा को छू गया। शबाना आजमी की सशक्त भूमिका की वजह से यह फिल्म चली भी खूब और इतने व्यापार भी अच्छा किया। लेकिन ऐसी किस्मत सभी बाल फिल्मों की नहीं होती।

देश-विदेश में आयोजित राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय बाल फिल्म मेलों में हमारी बाल-फिल्में शामिल होती हैं और श्रेष्ठता का पुरस्कार भी जीतती हैं जिससे फिल्म निर्माताओं को प्रोत्साहन एवं ख्याति तो मिलती है पर व्यावसायिक लाभ कितना मिलता है, कोई नहीं जानता।

आखिर हमारी बाल फिल्में अपना दायरा और बजट क्यों नहीं बढ़ाती? सी. एफ.एस.आई (अब राष्ट्रीय बाल एवं युवा चलचित्र केंद्र) जैसी अर्धसरकारी/स्वायत्त संस्थाओं की सीमाएं हैं पर निजी निर्माताओं की तो सीमाएं नहीं हैं। वे जुरासिक पार्क जैसी प्रयोगशील फिल्में, जो बड़ों और बच्चों सभी को आकर्षित करती है, बनाने के लिए क्यों आगे नहीं आते? *जनंतरम-मनंतरम* 'सिनेमेटोग्राफिक एफेक्टस' के कारण काफी मंहगी फिल्म बनी है पर लोकप्रिय हो रही है। भले ही शास्त्रीय ढांचे में यह बच्चों की फिल्म नहीं है पर उसका एक बड़ा दर्शक वर्ग बच्चों का भी है। जब कि बाल फिल्मों के साथ कई दिक्कते हैं। उनके प्रदर्शन का आयोजन बड़े पैमाने पर नहीं किया जाता। वे सिर्फ बाल दिवस के आस-पास ही अपनी भव्य उपस्थिति दर्ज कराती हैं। उनके नियमित प्रदर्शन के लिए देश में थियेटरों की भारी कमी है। वैसे भी अब सिनेमागृहों को बंद कर व्यावसायिक कंप्लेक्स खड़े किए जा रहे हैं। यह जरूर सौभाग्य की बात है कि नई दिल्ली के सिरीफोर्ट कंप्लेक्स में बच्चों की फिल्में नियमित रूप से प्रदर्शित करने के लिए सरकार ने एक स्थायी थियेटर प्रदान कर दिया है। लेकिन इसे भी 'ऊंट के मुंह में जीरा' कहा जा सकता है।

कुछ दिनों पहले मैं *इंडिया टाइम्स* की वेब साइट देख रहा था। उसमें गेस्ट कॉलम गेस्ट कॉलम के अंतर्गत व्यक्त किए गए अमोल पालेकर के विचारों का समर्थन करते हुए एक पाठक बाल गोविंद ने बाल सिनेमा और टी.वी. पर आयातित बाल कार्यक्रमों के बारे में अपनी गंभीर प्रतिक्रिया जाहिर की थी। इस का संदर्भ देना मैं यहां लाजिमी समझता हूं।

बाल गोविंद कहते हैं- डिस्नी आवर और कार्टून नेटवर्क जैसे आयातित कार्यक्रमों से हमारा प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है। हमारे साथ समस्या यह है कि हम अपनी पूर्वधारणाओं को बदलना नहीं चाहते और न ही कोई जोखिम लेना चाहते है।

लेकिन किसी न किसी को तो यह दुष्चक्र तोड़कर आगे आना ही होगा। एक अच्छी बाल फिल्म पर कुछ लाख रुपयों का निवेश करना बड़े बजट की फिल्मों में करोड़ों रुपये खर्च कर फिल्माए गए एक ऐसे गाने से बेहतर है जो कुछ ही दिनों में टांय-टाय फिस्स हो जाता है।' बाल गोविंद की यह प्रतिक्रिया हमारी बाल फिल्मों की त्रासदी और बाजारवाद दोनों पर एक सटीक टिप्पणी है।

यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि जहां पश्चिमी देशों में बाल मनोरंजन और बाल सिनेमा लाखों-करोड़ों डॉलर का उद्योग बन चुका है, हमारे देश में बाल सिनेमा अभी भी फिल्म उद्योग की प्राथमिकताओं में सबसे नीचे है। क्या कोई इस दिशा में सक्षम और समयोचित पहल करेगा? □

एक बहुआयामी व्यक्तित्व मुल्कराज आनंद

बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी मुल्कराज आनंद आज हमारे बीच नहीं हैं / उनका जन्म 12 दिसंबर, 1905 को पेशावर में हुआ / 28 सितंबर, 2004 को उन्होंने आखिरी सांस ली / अपनी सशक्त लेखनी से देश-विदेश में लोगों के दिलों पर राज करने वाले मुल्कराज आनंद को 1967 में पदमभूषण से सम्मानित किया गया / उनके लेखकीय सफर का संक्षिप्त परिचय दे रही हैं **ललिता खुराना**

अपनी सशक्त लेखनी से देश-विदेश में ख्याति हासिल करने वाले मुल्कराज आनंद का नाम साहित्य प्रेमियों के लिए जाना-माना है। उन्हें अंग्रेजी में उपन्यासों, लघुकथाओं और आलोचनात्मक लेखों के प्रमुख भारतीय लेखक के रूप में जाना जाता है। लेखन और कला के प्रति उनकी निष्ठा और समर्पण जगजाहिर है। मुल्कराज बेहद ही संवेदनशील व्यक्ति थे और गरीबों तथा शोषितों के प्रति उनके हृदय में विशेष सहानुभूति थी जोकि उनके अधिकतर उपन्यासों में भी झलकती है। उन्होंने भारत के गरीबों का यथार्थवादी और भावपूर्ण वर्णन किया।

भारतीय अंग्रेजी उपन्यासों के संस्थापकों में राजा राव और आर.के. नारायण के साथ इनका नाम भी लिया जाता है। अंग्रेजी में पंजाबी और हिंदुस्तानी के मुहावरों तथा लोकोक्तियों का प्रयोग करने वाले वह पहले लेखक थे।

उन्होंने बहुत कम उम्र में लेखन जगत में कदम रखा। साहित्य में उनका यह सफर एक त्रासदीपूर्ण घटना से शुरू हुआ। उनकी एक करीबी रिश्तेदार के एक मुस्लिम महिला के साथ खाना खाने पर उनका जाति से बहिष्कार कर दिया गया था। इस पर उस महिला ने खुदकशी कर ली। इस घटना से उद्वेलित होकर आनंद ने एक गद्यांश लिखा। तत्पश्चात इनका लेखन का जो सफर शुरू हुआ तो वह जीवन भर चलता रहा। 1935 में प्रकाशित अपनी कृति 'अनटचेबल' (अछूत) से इन्हें काफी मान-सम्मान हासिल हुआ। इस उपन्यास में उन्होंने भारतीय समाज में जड़ें जमाए जाति प्रथा की बुराई पर कुठाराघात किया। 1936 में प्रकाशित कृति 'कुली' ने भारत के अंग्रेजी लेखकों के बीच इन्हें सम्मानजनक स्थान दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।



मुल्कराज आनंद

कला और लेखन क्षेत्र में व्यस्त रहने के अलावा आनंद ने कई राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय गतिविधियों में भाग लिया। ड्रामा, पेंटिंग, मूर्तिकला जैसे विविध कला क्षेत्रों की जानकारी के अलावा विविध मानवीय गतिविधियों में इनकी गहन रुचि थी। 1952 में इन्हें विश्व शांति परिषद के (वर्ल्ड पीस कौंसिल) अंतर्राष्ट्रीय शांति पुरस्कार से सम्मानित किया गया। यह पुरस्कार उन्हें साहित्य के जरिए उनकी सेवा के लिए दिया गया। एशियाई लेखकों की कांफ्रेंस आयोजित करने वाले वह पहले व्यक्ति थे। ललित कला अकादमी के अध्यक्ष और प्रतिष्ठित कला पत्रिका *मार्ग* के संस्थापक संपादक के रूप में कला क्षेत्र में उनके उल्लेखनीय योगदान के लिए उन्हें भारत के राष्ट्रपति ने 1967 में पद्मभूषण से सम्मानित किया। 1972 में उनके उपन्यास *मोर्निंग फेस* को साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला। कई राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित मुल्कराज आनंद की अन्य प्रमुख कृतियों में *टू लीव्ज एंड ए बड* (1937), *द विलेज* (1939), *एक्रॉस द ब्लैक वाटर्स* (1940), *सोर्ड एंड द सिकल* (1942), *द*

बिग हार्ट (1945) शामिल हैं। सात खंडों में प्रकाशित उनकी आत्मकथा *सेवन एजेज़ आफ मैन* उनकी उत्कृष्ट कृतियों में से एक है। इनके उपन्यास भावनात्मक रूप से बेहद सशक्त होने के कारण पाठक के मन पर गहरा प्रभाव छोड़ते हैं। अपनी इसी विधा के चलते विश्व भर में इनके प्रशंसक मौजूद हैं। इनके उपन्यासों के कई विदेशी भाषाओं में अनुवाद हुए हैं।

इनके अधिकतर उपन्यास सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों से उपजी समस्याओं को उठाते हैं। इनके पात्र गरीब और शोषक हैं। 'द ओल्ड वीमैन एंड द काओ' इनका एकमात्र ऐसा उपन्यास है जो महिला चरित्र के ही इर्द-गिर्द घूमता है इनके अन्य उपन्यासों में महिला पात्र कम हैं लेकिन जो हैं, वे यादगार हैं।

उनका *लेमेंट ऑन द डेथ ऑफ ए मास्टर ऑफ द आर्ट्स* (1938) उपन्यास हमारी दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली पर कुठाराघात करता है।

पेशावर में (जो अब पाकिस्तान में है) 12 दिसंबर, 1905 को एक हिंदू क्षत्रिय परिवार में जन्में मुल्कराज आनंद के पिता तांबा कारीगर थे जो बाद में सिपाही बन गए थे। उनकी मां ईश्वर कौर कृषक परिवार से थी। आनंद ने 1924 में पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर से स्नातक डिग्री प्राप्त की और केम्ब्रिज विश्वविद्यालय तथा यूनिवर्सिटी कॉलेज, लंदन में आगे की शिक्षा ग्रहण की। यूरोप में रहते हुए ही वह भारत के स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय हुए और थोड़े समय बाद ही उन्होंने *पर्सियन पेंटिंग* (1930), *करीज एंड अदर इंडियन डिशेज* (1932) और *द हिंदू व्यू ऑफ आर्ट* (1933) सहित दक्षिण एशियाई संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर पुस्तकों की एक शृंखला लिखी।

मुल्कराज आनंद ने जिनेवा में लीग आफ नेशंस स्कूल ऑफ इंटलेक्चुअल और लंदन में वर्कर्स एजुकेशन एसोसिएशन में पढ़ाया। 1930 से 1940 के बीच आनंद भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में सक्रिय रहे। वह गांधीजी से बेहद प्रभावित थे। वह कुतुब पब्लिशर्स के निदेशक भी रहे। 1948 से 1966 के बीच इन्होंने भारतीय विश्वविद्यालयों में भी पढ़ाया।

उनका व्यक्तिगत जीवन संवेदना के स्तर पर बेहद संघर्षशील रहा लेकिन इसके बावजूद वह टूटे नही, हारे नही और स्वयं अपने भाग्य के निर्माता बने। उनका जीवन के बारे में दर्शन भी कुछ ऐसा ही था जिसे वह अपनी लेखनी के जरिए कहते भी थे कि भाग्य कुछ नहीं होता। हम स्वयं ही अपने कर्म, चरित्र और भाग्य के निर्माता होते हैं। चाहे वो अच्छा हो या बुरा।

उनका पहला प्यार एक मुस्लिम लड़की यासमीन से हुआ किंतु उससे इनका विवाह नही हो पाया। उसके प्रेम में उन्होंने कई भावपूर्ण कविताएं लिखीं। 1932 में इन्होंने थियेटर कलाकार कैथलिन वेन गेल्डर से विवाह किया। यह विवाह ज्यादा समय नहीं चला। इनसे उन्हें एक बेटी हुई। जब आनंद मुंबई आए तो उनकी मुलाकत एक खूबसूरत महिला अनिल डिसिल्वा से हुई जिससे प्रभावित होकर 1946 में इन्होंने माडर्न आर्किटेक्टस् एंड आर्टिस्टस रिसर्च ग्रुप और कला पत्रिका *मार्ग* शुरू की। डिसिल्वा से शादी की इच्छा में वह अपनी पहली पत्नी कैथलिन से तलाक लेने के लिए लंदन रवाना हुए लेकिन इस बीच ही डिसिल्वा ने एक फ्रेंच व्यक्ति से शादी कर ली। इन्हें इस घटना से गहरा आघात पहुंचा और वह बीमार पड़ गए। तब एक ग्रीक नृत्यांगना ने इनकी काफी देखभाल की जिसने इन्हें दोबारा लिखने के लिए प्रोत्साहित किया। इन दिनों उन्होंने एक उपन्यास ''प्राइवेट लाइफ ऑफ एन इंडियन प्रिंस' लिखी।

बाद में उन्होंने एक भारतीय नृत्यांगना शिरिन वाजिफदार से विवाह किया जिसने जीवन के संघर्ष में इनका अंतिम समय तक साथ दिया। इनसे उनकी एक पुत्री भी है।

गत 28 सितंबर, 2004 को 99 वर्ष की उम्र में मुल्कराज आनंद का देहांत हो गया। उन्हें 17 सितंबर को अस्पताल में भर्ती कराया गया था।

बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी मुल्कराज आज हमारे बीच नहीं हैं। अपने उपन्यास *मोर्निंग फेस* में अपने पात्र देवदत्त के माध्यम से जो बात उन्होंने कही थी, वह अब ध्यान में आती है-

''मौत के सदमे से हमें यह सीख लेनी चाहिए कि हम अपने जीवन में किस तरह का व्यवहार करें।'' मुल्कराज आनंद की मृत्यु भी शायद हमें कुछ ऐसा ही संदेश देना चाहती है। □

आजकल हीरक जयंती के उपलक्ष्य में

कहानी प्रतियोगिता

युवा कथाकारों से मौलिक, अप्रकाशित रचनाएं आमंत्रित हैं

प्रथम पुरस्कार	5000 रुपये
द्वितीय पुरस्कार	3000 रुपये
तृतीय पुरस्कार	2000 रुपये

रचनाएं भेजने की अंतिम तिथि 31 दिसंबर, 2004

-नियम-

- रचना अप्रकाशित, मौलिक और हिंदी में दो प्रतियों में टाईप की हुई होनी चाहिए। वापसी के लिए साथ में अपना पता लिखा और डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
- प्रतियोगिता में भाग लेने वाले कथाकार की आयु 31 दिसंबर 2004 को 40 वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिए। जन्म का प्रमाण पत्र साथ भेजे।

प्रभारी संपादक
आजकल (हिंदी) प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001

वह जिए तो यों जिए

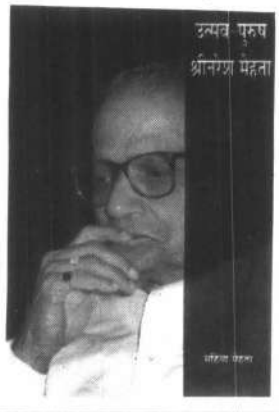
से.रा. यात्री

नरेश मेहता आधुनिक हिंदी साहित्य के वृहद संदर्भों के एक विशिष्ट रचनाकार हैं। उन्हें वैष्णव अनुभूतियों के दुर्लभ चितेरे के रूप में पहचाना जाता है। उनके व्यक्तित्व के कितने ही सृजनात्मक आयाम हैं। वैयक्तिक तथा गहन गूढ़ स्तरों तक जाते सामाजिक सरोकारों को उन्होंने गंभीर रचनाओं के रूप में ढाला है। यद्यपि वह काफी लंबे समय तक साम्यवादी दल से सक्रिय रूप में संबद्ध रहे थे, तथापि उनकी सृजन भूमि में विजातीय तत्त्व कभी नहीं पनपे। प्रगतिशील रहते हुए भी उनकी रचनाएं बहुस्तरीय और गहन, संवेदनाओं से घनीभूत रही। श्री नरेश मेहता अपने समकालीन रचनाकारों की अपेक्षा कई अर्थों में उनसे भिन्न सर्जक व्यक्तित्व रखते हैं।

उपरोक्त संदर्भों को दृष्टि में रखते हुए भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित– नरेश मेहता की मनोभूमि के साथ जैविक चर्चा का आकलन उनकी जीवन संगिनी सुश्री महिमा मेहता ने जिस रूप में प्रस्तुत किया है वह प्रामाणिक तो है ही, बहुआयामी भी है। *उत्सव पुरुष* नरेश मेहता जी के बहिरांतर का सम्यक विराटत्व उपस्थित करता है।

पत्नी द्वारा पति की जीवनी लिखना कोई सरल कार्य नहीं, और उस स्थिति में तो यह काम और भी अधिक, कठिन हो जाता है जब पति एक विश्रत रचनाकार है और उसके साथ कमोबेश कुछ विवाद भी जुड़े हों। एक तो जीवन साथी की दैनन्दिन स्थूल जीवन चर्चा–उसका जागतिक आचरण तथा दूसरा उसका रचनाकर्म, सृजन प्रक्रिया तथा मनोभूमि की थाह पा लेने की कोशिश।

नरेश मेहता की जीवनी से बरसों पहले मुंशी प्रेमचंद की पत्नी श्रीमती शिवरानी देवी एक बहुत बेबाक जीवनी–लेखक और व्यक्ति प्रेमचंद के बारे में लिख चुकी थीं। उसमें प्रेमचंद की खूबियों और खामियों का खुलकर ब्यौरा प्रस्तुत किया गया था। इस तथ्य को दृष्टि में रखने पर पाठक को सहज उत्सुकता होगी कि देखें नरेश जी की पत्नी ने मेहता जी के व्यक्तित्व को किन–किन रूपों में उजागर किया है।



उत्सव पुरुष : नरेश मेहता :
लेखिका : महिमा मेहता;
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ
लोदी रोड, दिल्ली
पृष्ठ संख्या : 176;
मूल्य : 150 रुपये

यह कहते हुए प्रसन्नता होती है कि महिमा जी ने यह दायित्व बहुत सधे हाथों से लिया है। नरेश मेहता के अनेक स्वरूपों और पक्षों को उद्घाटित करते हुए उन्होंने पति के जटिल व्यक्तित्व का लेखा–जोखा पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि यह कार्य एक सहज सुबोध भाषा में संपन्न हुआ है जो सर्वथा कथारस से समन्वित है। मेहता जी के न जाने कितने दबे–सोए पड़े स्वरूपों को उन्होंने दैनन्दिन जीवन–प्रसंगों में रूपाकार दिया है।

एक श्रेष्ठ रचनाकार अपने दैनिक जीवन में अपनी आंतरिक वृत्तियों के वशीभूत कभी–कभी कितना दुरुह और आत्मस्थ हो सकता है, इसके अनेक संकेत इस जीवन वृत्त में यत्र–तत्र देखे जा सकते हैं पर महिमा जी ने सभी प्रकार की अतियों से बचते हुए भरपूर तटस्थता का निर्वाह किया है। उन्होंने नरेश मेहता को एक कठिन जीवन साथी निरूपित करते हुए भी उनके व्यक्तित्व के दोनों पक्षों को बहुत ही संवेदनशीलता से व्यक्त किया है–

''होमियोपैथी से लाभ होता न देखकर हमने बेटे का एलोपैथी इलाज कराने का निर्णय किया। दोपहर में विद्यालय से लौटकर मैं बच्चे को उठाकर चिलचिलाती धूप में घर से दूर घंटाघर तक ले जाती।... चूंकि डाक्टर बहुत देर से आते थे, इसलिए वहां बहुत भीड़ होती थी। घंटों कतार में रहना पड़ता था। महीनों तक बच्चे को लेकर इस तरह मैं अकेले ही जाती रही। ये कभी साथ नहीं गए।''

''डाक्टर के यहां से लौटकर भरी दोपहरी में कंडे जलाती, मिट्टी की हंडिया में कच्चा केला डालकर भात रांधती और बच्चे को खिलाती। नरेश जी कुछ भी मदद किए बिना बैठे–बैठे लगातार मुझे देखते रहते।'' (पृष्ठ 79)

इस स्थिति के चलते पत्नी अपने भीतर उबलते क्रोध के लावे को जहर की तरह पचा जाए– इसे शिवतत्व की विराट शक्ति ही कहा जाएगा। यह महिमा जी के धीर गंभीर व्यक्तित्व का उद्दीप्त पक्ष है।

नरेश मेहता अपने व्यक्तित्व में जितने सहज सरल, जनाभिमुख और सहज प्रवह मान थे, उसी अनुपात में वह क्लिष्ट भी थे। कुल मिलाकर मानवीय संवेदना की अंत:सलिला भी उनके मन प्राणों में तरंगायित होती रहती थी। उनकी वत्सलता कितनी भोली और निष्कपट थी, उसका यह उदारहरण भी दृष्टव्य है–

बाबुल (बीमार पुत्र) के सो जाने पर नरेश जी रंगीन कागज की पन्नियों में खजूर काटकर टॉफी जैसा लपेटते। बाबुल बड़ा हो रहा था। टॉफी समझने लगा था। लीवर के कारण उसका दूध बंद था तो टाफी का तो सवाल ही नहीं उठता था। बाजार से शीशे के जार में चमकती पन्नी में लिपटी टॉफी देखकर जब बच्चा जिद करता, नरेश जी दूकान की सीढ़ी चढ़कर जाते और वापस लौटकर जेब से

पत्नी में लिपटी खजूर निकालकर दे देते। जब तक बच्चा ठीक नहीं हो गया, यह क्रम बराबर चलता रहा।'' (पृष्ठ 79)

एक ओर तो बीमार बच्चे को डाक्टर के पास तक न ले जाना और दूसरी ओर बच्चे के खान-पान और स्वास्थ्य की चिंता। दोनों स्थितियों को सामने रखकर देखें तो मेहता जी भीतरी अंतर्विरोधों के चलते अबूझ पहेली जैसे लगते हैं। किंतु यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि उनके भीतर लहराती स्नेह की अजस्र धारा उनकी कोमल वृत्ति को ही रेखांकित करती है।

किन कठिन और मारक परिस्थितियों में महिमा जी ने अपने पति की सृजन चेतना को जीवित रखा- उसे जानकर आश्चर्य होता है। एक बार जब उन्हें इस तथ्य की प्रतीति हो गई कि उनके पति महान और अद्‌भुत प्रतिभा के धनी हैं, तो उन्होंने सारी विपरीत परीस्थितियों से युद्ध स्तर पर लड़ने की ठान ली। नरेश जी के जीवन काल में (और उनके बाद भी) उन्होंने संघर्षों से कभी मुंह नहीं मोड़ा। ''इतने संवेदनशील व्यक्ति से क्या, अपेक्षा करना उसे सहेजने, समेटने की जिम्मेदारी तो आपकी है, परिवार, की है, समाज की है। मैं कुछ और नहीं कर सकती तो ऐसा वातावरण तो बना सकती हूं कि ये निश्चिंत होकर अपनी काव्य साधना कर सकें। बिना व्यवधान के रचना कर सकें।'' (पृष्ठ 63)

महिमा जी का अंतिम वाक्य दृष्टव्य है। क्या निरंतर अभावों की उत्ताल तरंगों में ऊभ-चूभ होता कोई व्यक्ति किसी को इतना संभालकर रख सकने की बात सोच सकता है। कई तरह के जागतिक-मानसिक दबाव झेलते हुए पति का मार्ग निर्विघ्न बनाने का यह कितना गुरुतर संकल्प है।

कहना न होगा। महिमा जी ने अपनी प्रतिज्ञा-अपने संकल्प की हमेशा रक्षा की। नरेश जी के व्यक्तित्व में राग-विराग का अद्‌भुत मिश्रण था। वह निःसंग भी बने रहना चाहते थे और जनाभिमुख भी। यही उनकी नियति और प्रवृत्ति थी। नरेश जी ने बहुत लंबी अवधि तक अपने सांसारिक बेड़े को अभावों के सागर में पार लगाने की भरसक सामर्थ्य बनाए रखी। दैन्य और पलायन को उन्होंने कभी भी अपने पास तक नहीं फटकने दिया। प्रलोभन के वशीभूत होकर अपने सुनिश्चित मार्ग से भटकना उन्हें स्वीकार नहीं था। ऑल इंडिया रेडियो की अच्छी भली लगी-लगाई नौकरी को उन्होंने अपनी रचनात्मकता के मार्ग में बाधा पाकर एक क्षण में छोड़ दिया।

यही क्यों, बाद में भी नरेश जी के सामने आंखों को चकाचौंध करने वाले कई आकर्षण और प्रलोभन आए। किंतु उन्होंने अपने साहित्य सृजन के एकसूत्री कार्यक्रम पर ही दृष्टि निबद्ध रखी। इस रचनाजीवी जिजीविषा ने उनको जागतिक समृद्धि के सामने ले जाकर खड़ा भी कर दिया। पर यह संभव हो पाया महिमा जी की अथक साधना के बल पर ही। उनकी तपस्या से ही नरेश मेहता की श्रेष्ठ रचनाधर्मिता लोक स्वीकृति पा सकी। साहित्य के क्षेत्र में उनकी अपनी एक विशिष्ट पहचान भी बन गई।

किंतु प्रश्न उठता है महिमा जी को क्या मिला? उनकी नियति तो 'दुख ही जीवन की कथा रही।'

नरेश जी का एक महान सृजन शिल्पी बनने का स्वप्न था। उनकी कल्पनाओं के गगनचुंबी राज प्रासाद की जिस अतल गहराई तक जाने वाली पुख्ता नींव की वांछा थी, उसमें समा जाना और अलक्षित बने रहना ही महिमा जी की एक मात्र नियति थी। महिमा जी ने वही करके दिखा भी दिया। भीतर ही भीतर दहते हुए उन्होंने स्नेह सौम्यता और सहिष्णुता की निर्व्याज वर्षा करते रहना ही अपना धर्म बना लिया। उन्होंने स्वयं को सर्वत्र, अनुपस्थित रखते हुए एक महान स्वप्न को चरितार्थ किया- वृहद आकार दिया। यह सच में उनके नाम- गुण के अनुरूप ही कहा जाएगा।

जब स्वप्न वीथिका में रमने का मुदित क्षण आया तो मानो दुर्दांत नियति ने क्रूर झपट्टा मारकर उनसे उनका सर्वस्व ही छीन लिया। दुर्वह यात्रा के श्रांत पथिक को जिस पड़ाव पर स्नेह, संस्पर्शों से आप्लावित होना था- वहां जलन, क्षरण के अतिरिक्त कुछ नहीं था। सामने था...निचाट रोगिस्तान। पति के वियोग से पहले ही एकमात्र पुत्र बाबुल (ईशान) विवाह के महज डेढ़ माह बाद मां महिमा और पत्नी वंदना को बिलखता छोड़ गया।

पुत्र और पति को खोने के बाद महिमा जी अकेली रह गईं। तब एक दिन डूबते सूरज की लाली में उदास लंबी शाम को देखते हुए लगा, इस शाम ने तो फैलते-फैलते मेरा पूरा जीवन ही घेर लिया है। अपनी एकांत पति निर्भरता का मूल्य मुझे इस प्रकार चुकाना पड़ेगा, पता नहीं था। (पृष्ठ 156)

और अंत में- महिमा जी ने श्री नरेश मेहता की इस जीवनी में कुछ पृष्ठ उनकी रचना-प्रक्रिया पर दृष्टिपात करने में निमित्त भी दिए हैं जो उनके आर्ष व्यक्तित्व की ओर संकेत करते हैं।

'सागर की वह पुकार, तट पर पछाड़ें खाना' मन को विह्वल करता है। मन ही मन सागर को आश्वासन दिया- 'मेरे पास एक ही माध्यम है- काव्य। तुम्हारे इस आकुल-व्याकुल पछाड़ें खाते रौद्र रूप को काव्य के माध्यम से व्यक्त करूंगी। तभी तुम्हारा दर्शन सार्थक होगा।' (पृष्ठ 163) □

लघुकथा

नए नोट

बैंक बाबू जिरह कर रहे थे। बाक्स वाला दीवान बनवाना चाहते थे। 'सुरजीत फर्नीचर' से बहुत पुरानी जान-पहचान थी। बैंक में बहुत बार 'आउट ऑफ टर्न' उनके सैल्ज-टैक्स के चालान वगैरा जमा करवा देते थे।

आज कुछ डिस्कॉउट लेने पर अड़े थे। सुरजीत था कि बार-बार कह रहा था, 'साहब आपके कहे बगैर ही कम कर दिए हैं।' बैंक बाबू सौ-दो सौ रुपये और कम करवाने की ताकीद कर रहे थे। तभी टेलीफोन खड़का। सुरजीत ने उठाया। उधर वकील साहब बोल रहे थे। आदेश हुआ कि कल इनकम टैक्स आफिस जाना है, इंस्पेक्टर को तो पटा लिया है। आई.टी.ओ. थोड़ा टेढ़ा है, उससे कल मुलाकात करनी है, बहीखाते पेश करने की नौबत आ सकती है। हजार रुपये वाले पचास नए-नए नोटों का बंदोबस्त कर लेने का हुक्म हुआ।

टेलीफोन रखकर सुरजीत ने बैंक बाबू की तरफ देखा। अर्थपूर्ण मुस्कराकर कहा, 'ठीक है साहब जी, डेढ़ सौ रुपये कम हो जाएंगे, मगर हजार-हजार वाले नए नोटों का इंतजाम करना होगा, आज ही।'

बैंक बाबू ने झट से आर्डर दे दिया।

जसविंदर शर्मा

समीक्षा

एक बच्चे के भीतर बैठा लेखक

टुकड़ा-टुकड़ा संघर्ष : दिनेश चमोला 'शैलेश'; आदिश प्रकाशन, एफ-1, आई.आई. पी. कालोनी; देहरादून (उत्तरांचल)

'टुकड़ा-टुकड़ा संघर्ष। '...दिनेश चमोला 'शैलेश' का 'बाल मनोविज्ञान व बाल मनोभावनाओं का सशक्त उपन्यास।'... इस दावे को टिकट की तरह पास रखकर उपन्यास की यात्रा करने पर भारतीय रेल में यात्रा करने जैसा अनुभव होता है- भीड़-भाड़, धक्कम पेल, गंदगी...! दिनेश चमोला बाल साहित्य की रचना करते रहे हैं। इस लिहाज से उन्हें बाल मनोविज्ञान की सही समझ होनी चाहिए थी, मगर दुर्भाग्य! इस उपन्यास में न तो कहीं बाल मनोविज्ञान है और न ही कहीं बाल मनोभाव! इसके बदले एक बच्चे के भीतर बैठा हुआ लेखक जरूर देखा जा सकता है।

उपन्यास में एक बच्चा ऐसे-ऐसे तर्क प्रस्तुत करता है कि बड़े-बड़े मेजर, बड़े-बड़े टीचर, बड़े-बड़े संपादक नतमस्तक हो जाते हैं! जब बच्चा तीन ही साल का होता है तभी वह 'अपने ही परिवार के एक चाचा' को मां के हवाले सीख दे डालता है-''मेरी मां कहती है, चाचा गंदी बात कभी नहीं बोलनी चाहिए। गंदी बात भगवान को अच्छी नहीं लगती है...वे फिर उसको उसकी कठोर राजा देते हैं।'' (पृ. 9)

भोला-भाला राजू अपनी मां से ऐसे 'मासूम' सवाल करता है कि उसकी मां की तरह मार्क्स भी 'दांतों तले अंगुली दबाने पर मजबूर हो' जाए- ''अच्छा मां यह बताओ...गरीब होना क्या अभिशाप है? यदि नहीं तो फिर सारे अत्याचार व शोषण गरीबों पर ही क्यों होता है?''

बालक राजू को शोषक के चरित्र की ठीक-ठीक जानकारी भी है- 'राजू जानता है कि साहूकारों से लिए गए पैसे लौटाने तक उसके बदले में वे जो बड़े-बड़े कार्य व शोषण करते हैं...'(पृ. 28)

इस तरह हम पाते हैं कि एक छोटे से पहाड़ी बालक राजू में लेखक ने इतनी प्रबुद्धता भर दी है कि उसका भोलापन, उसका बचपना कहीं रह ही नहीं गया है।

उपन्यास जहां शुरू होता है वहां संभावना दिखती है। एक पहाड़ी अभावग्रस्त बालक पढ़ना चाहता है, अभावग्रस्त मां की तकलीफ वह नहीं देख सकता, शहर जाकर पढ़ाई के लिए खर्च जुटाना चाहता है। एक पहाड़ी बालक देहरादून और फिर दिल्ली जाकर जीवन के कडवे यथार्थ का सामना किस तरह कर सकता है , इस पर बहुत कुछ कहा जा सकता था । लेकिन लेखक के मन में तो बाल-मजदूर की समस्या भी है, बाल-अपहरण की समस्या भी है, राजू को खोजी पत्रकार बनाने की योजना भी है। इसलिए उपन्यास अपने लक्ष्य से भटका हुआ दीखता है। उपन्यास को किसी एक लक्ष्य पर न टिकाकर लेखक ने अलग-अलग समस्याओं की एक ऐसी अनमेल खिचड़ी पकाई है कि इसका स्वाद ही बिगड़ गया है।

इस उपन्यास का नाम 'टुकड़ा-टुकड़ा संघर्ष' है। यानी उपन्यास में संघर्ष ही संघर्ष है। लेकिन संघर्ष इतना एक नीरस हो सकता है यह इसी उपन्यास को पढ़कर जाना जा सकता है। सच तो यह है कि इस उपन्यास में संघर्ष है ही नहीं। इसके विपरीत लोककथाओं की तरह का संयोग हर कदम पर घटित होता है और बालक राजू संघर्ष करने से बच जाता है। गांव से निकलकर सड़क पर आते ही उसे एक बढ़िया ड्राइवर मिल जाता है जो उसे देहरादून तक पहुंचा देता है। प्लेटफार्म पर मेजर जेनरल साहब मिल जाते हैं जो अपने साथ दिल्ली ले जाकर अपने घर में पनाह देकर दिल्ली की सड़कों को नापने से उसे बचा लेते हैं। उपन्यास पढ़ने पर लगता है कि दिनेश चमोला को बहुत सी तथ्यात्मक बातों की जानकारी भी नहीं है। सबसे बड़ा उदाहरण है- 'भारतीय सेना का प्रमुख रहा' कोई व्यक्ति ठीक उसी श्रेणी में यात्रा नहीं करता जिसमें राजू जैसा पहाड़ी गरीब बालक यात्रा करता है।

उपन्यास पढ़कर खत्म करने पर मन गहरे अवसाद में डूब जाता है। अवसाद इसलिए नहीं कि बेचारे राजू के क्या क्या न सितम सहे। अवसाद इसलिए कि 269 पृष्ठों के इस उपन्यास से हमें मिला क्या?

मुझे बाहर निकालो : गोविंद मिश्र; राधाकृष्ण प्रकाशन, जगत पुरी, दिल्ली-110 051; पृष्ठ : मूल्य : 150 रुपये।

हिंदी के वरिष्ठ कथाकार गोविंद मिश्र के अब तक दस से अधिक कथा संग्रह आ चुके हैं। बहुत अधिक लिखने वाले लेखकों के लेखन में गुणवत्ता का जो ह्रास देखने को मिलता है वह गोविंद मिश्र के नए कहानी संग्रह 'मुझे बाहर निकालो' में भी देखा जा सकता है। पुराने कथानक, बोझिल विवरण और दार्शनिक कथनों की वजह से पाठक मानो पुकार उठता है- 'मुझे बाहर निकालो!'

इस कथा-संग्रह में स्त्री-पुरुष के विवाहेतर संबंध जैसे शाश्वत विषय तो हैं ही, पिता-पुत्र के तनावपूर्ण संबंध भी हैं, वृद्धों का उपेक्षापूर्ण जीवन भी है। यही नहीं, देश-प्रेम से लबालब व्यक्ति का उपेक्षित जीवन भी है। जाहिर है, ये कथानक 'मैले हो गए!' ले देकर एक 'शिकार' कहानी है जो थोड़ा नयापन किए हुए है- किसी ठग-स्त्री का गांधीवादी हृदय परिवर्तन भी इस कहानी में इतने अच्छे ढंग से आया है कि जरा भी अटपटा नहीं लगता।

यह कोई अनिवार्य नियम नहीं है लेकिन प्राय: ऐसा होता है कि लेखक जिस वय में होता है, अपने पात्रों के चयन में उसी वय को प्राथमिकता देता है। उस वय के उसके अपने अनुभव उन पात्रों को सृजित करने में काम आते हैं। संभवत: इसीलिए इस कथा-संग्रह के अधिकांश पात्र अधेड़, रिटायर्ड या वृद्ध हैं। बीमार, कमजोर, लाचार, पुत्र से उपेक्षित। ''व्यर्थ ही लोग पूरी उम्र के बाद की मृत्यु को कहते हैं'', मृत्यु तो जीते जी भी आ सकती है, जैसे कि 'साथें' की वृद्धा की या फिर 'मुक्ति' के बूढ़े बुढ़िया की। 'मुक्ति' का बूढ़ा तो अंत तक अपने 'पुरुषोचित' अहंकार बुढिया पर लादता रहा और वह कमजोर, लाचार पति की सेवा में जुती रही। हर रोज बूढ़े की मृत्यु की कामना करती रही। लेकिन जब सचमुच बूढ़े से उसे 'मुक्ति' मिल जाती है तब अकेलेपन का एहसास उस पर उतरने लगता है।

स्त्री-पुरुष के संबंधों पर संग्रह में चार कहानियां हैं- 'लहर', 'लावारिस', 'लिपुड़ा अतीत' और 'नया घर'। इनमें से अंतिम तीन को गोविंद मिश्र ने 'कथात्रयी' नाम से प्रस्तुत किया है। ये तीनों कहानियां मिलाकर एक लंबी कहानी की तरह लगती भी हैं।

स्त्री-पुरुष में अलगाव, स्त्री का दूसरे, तीसरे पुरुष से जुड़ाव, विवाह की इच्छा और बीच में बच्चा। बच्चे का अकेलापन। कहानी का अंत मां से प्यार करने के बावजूद, मां की शादी के बाद पिता के साथ बच्चे के रहने के फसले से होता है। कहानी में यही एक 'नया' मोड़ है वर्ना तो 'आपका बंटी' (मन्नू भंडारी) और 'यामिनी कथा' (सूर्यबाला) के बाद इस कथानक पर लेखकों को लिखना बंद ही कर देना चाहिए। 'लहर' कहानी में रश्मि अपने पहले पति से त्रस्त होकर सवेंश से शादी कर लेती है ,लेकिन यहां भी वही हाल। चालाक, मक्कार, फरेबी पुरुष से सामना! फिर वह तीसरे पुरुष से जुड़ती है। इस तरह जीवन की 'लहर' पर वह बहती जाती है।

पिता पुत्र के घृणा और प्रेम संबंधों पर भी हिंदी में प्रचुर मात्रा में लिखा गया है। उन्हीं में से एक कहानी के रूप में गोविंद मिश्र की कहानी 'अक्षम' का नाम भी लिया जा सकता है।

—संजीव ठाकुर

बाल साहित्य के सर्जक की तहकीकात

यहां सुमन बिखेर दो : राज किशोर सिंह, उषा यादव; प्रकाशक : आत्माराम एंड संस, दिल्ली; पृष्ठ : 360; मूल्य : 375 रुपये

हिंदी साहित्य क्षितिज पर बाल साहित्य भले ही साहित्य की अन्य विधाओं की तरह लोगों के बीच, उतना लोकप्रिय नहीं रहा हो- लेकिन जहां उसका पाठक वर्ग और प्रभाव क्षेत्र रहा है वहां उसकी अपनी एक जीवंत परंपरा और विरासत रही है। शायद यही वजह है कि इस विधा में लिखने वाले जो लोग लंबे अंतराल तक सक्रिय रहे, उनकी सुध लेने वाले साहित्य प्रेमियों की भी एक लंबी कतार है। *यहां सुमन बिखेर दो* शीर्षक पुस्तक उन्हीं साहित्य प्रेमियों के जीवट का प्रतिफल है। 360 पृष्ठों में फैली इस पुस्तक के प्रेरणा सेतु हैं- 'चंद्रपाल सिंह यादव मयंक'।

हिंदी बाल साहित्य के आधार स्तंभ रहे श्री मयंक का जन्म पहली सितंबर 1925 को कानपुर में हुआ और निधन 26 जून 2000 को। अपने छह दशकों के रचनात्मक जीवन काल में उन्होंने अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा और लगन से बाल साहित्य की लगभग तमाम विधाओं में प्रचुर लेखन कार्य किया। बाल कविता के इतिहास में तो उन्होंने अपनी एक यादगार उपस्थित भी सदा के लिए दर्ज कर ली। उनकी लोकप्रियता इस कारण भी हुई क्योंकि उन्होंने बाल मनोविज्ञान के अनुरूप सरल एवं सहज भाषा में रोचक और प्रेरक बाल कविताएं लिखकर तथा बाल मंचों से उन्हें सुनाकर वे बच्चों का मन मोह लेते थे। इस पुस्तक में ये सारी बातें विस्तार में और आत्मीय भाव में प्रकट हुए हैं। मयंक जी अपने दौर में प्रकाशित लगभग तमाम पत्रिकाओं से गहरे जुड़े रहे। वे अपने समय की *नवयुग, धर्मयुग, साप्ताहिक हिंदुस्तान, बाल सखा, शिशु बाल विनोद, इंद्रधनुष, मनमोहन, रानी बिटिया, आदर्श बाल सखा, जीवन शिक्षा, शेर सखा वानर, विश्व बाल कल्याण, पराग, नंदन, बाल भारती, बाल हंस, बाल वीणा, बाल साहित्य समीक्षा* जैसी दर्जनों पत्रिकाओं में बाल मनोविज्ञान के अनुरूप बाल साहित्य की विभिन्न विध ाओं में विपुल लेखन कार्य करते रहे। वे बाल साहित्य आंदोलन में भी सक्रिय रहे। यह पुस्तक उनकी प्रसिद्ध कविता 'शहीद की समाधि' की इन पंक्तियों का आधार बनी हैं :

शहीद की समाधि है, यहां सुमन बिखेर दो
कदम इधर को मोड़ दो, नज़र इधर को फेर दो।

इस पुस्तक में मयंक जी की प्रतिनिधि कविताओं को 'परख' खंड में शामिल किया गया है। इसमें उनकी बहुचर्चित कविता- 'चिड़िया चली चांद के देश', 'जादूगर का खेल', 'चाट गरम', 'चूहों की बारात' आदि के साथ-साथ 'काले जामुन', 'शहीद की समाधि' और 'जादूगर बरसात' सरीखी कविताएं भी हैं। इन कविताओं को पढ़ते हुए मयंक जी की काव्य दृष्टि की झलक मिलती है कि वे कैसे शब्दों की कुशलता से कविता को दृश्यमान कर देते थे।

मयंक जी को उनके समय में रचनात्मक लेखन के लिए उन्हें बाल साहित्य के कई प्रतिष्ठित सम्मान भी मिले। उन्हें लखनऊ का प्रतिष्ठित 'सूर पुरस्कार' और इस विधा के सर्वोच्च सम्मान 'बाल साहित्य भारती' से भी अलंकृत किया गया। पुस्तक के अंतिम खंड में उनसे बाल साहित्य के संकट और उसकी चुनौतियों पर की गई वार्ताओं और साक्षात्कारों को भी शामिल किया गया है।

'अपनों के बीच' खंड में मयंक जी से अभिन्न रूप से जुड़े हुए उनके रचना पाठक और मित्रों के संस्मरण है। उन संस्मरणों की संख्या चौबीस है। उनमें मयंक जी के भावुक, ईमानदार और पारदर्शी व्यक्तित्व कृतित्व के कई पहलू उजागर हुए हैं।

'श्रद्धा-सुमन' खंड में छह लोगों ने मयंक जी के रचनात्मक शिखर पर पहुंचने की उनकी विकास यात्रा को रेखांकित करने की कोशिश की है। 'मयंक जी घर में' खंड में मयंक जी की बेटी, नातिनी, बेटा, साला आदि परिवार के सात लोगों के संस्मरण हैं। इन संस्मरणों में बहुत कुछ ऐसा है जो पहली बार पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत हुआ है। कामना सिंह ने बतलाया है कि किस तरह मयंक जी ने अपना व्यवहारिक जीवन बच्चों की तरह बिताया। गजेन्द्र सिंह यादव का मयंक जी पर लिखा गया संस्मरण मजेदार है। यह संस्मरण पढ़कर उनके भोले-भाले जीवन का परिचय मिलता है।

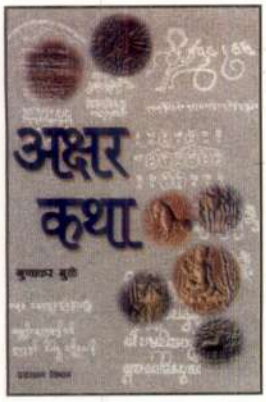
उषा यादव ने मयंक जी पर लंबा संस्मरण लिखा है। उन्होंने मयंक जी के जीवन सफर के विभिन्न पड़ावों का अनुभव पाठकों के समक्ष रखा है। उनके अंतिम दिनों के बारे में जब उनकी पत्नी का निधन हो गया, जो लिखा है, वह उत्तेजक है। वे यह भी बतलाना नहीं भूलती कि कैसे अपने अंतिम दिनों में अपनी रचनाओं की सुरक्षा को लेकर वे चिंतित और सजग हो जाया करते थे। उषा जी व्यक्ति मयंक और रचनाकार मयंक की विभाजक रेखा को भी चिह्नित करती हैं। उनके लेखन का अंदाजेबयां ही ऐसा है कि उसको पढ़ते ही पाठक भावुक हो उठता है और महसूस करने लगता है मयंक की पीड़ा को।

'परख' खंड में प्रकाश मनु, स्वर्ण सहोदर श्याम लाल यादव, राजेश, डा. कामना सिंह, विनीत शर्मा, राजकिशोर सिंह, कंचनलता यादव और उष यादव ने मयंक जी की दर्जनों की संख्या में प्रकाशित हुई कृतियों का अलग-अलग ढंग से अपने-अप ढंग से विश्लेषण और विवेचन किया है।

इस पुस्तक में शामिल बहुत सारे संस्मरण र लेख औपचारिकता की खानापूर्ति भर लगते हैं बेहत यह होता कि इसमें गुणवता वाले लेखों को ही छाप जाता और शेष पृष्ठों पर उनकी बाल कहानियां औ जीवनियों को स्थान दिया जाता। इससे उनके पृ लेखन का एक प्रतिनिधित्व भी हो जाता। य संपादकीय अक्षमता के कारण पैदा हुई गड़बड़ि हैं, बावजूद इसके यह एक बड़ी बात है कि एक बा सर्जक को इस तरह से याद किया जा रहा है।

—अरुण नारायण

हमारे नए साहित्यिक प्रकाशन



अक्षर कथा

लेखक : गुणाकर मुळे

सिंधु सभ्यता की लिपि किस स्वरूप की है, यह अभी तक जाना नहीं गया है। ईसा पूर्व दसवीं सदी के आसपास पहली बार वर्णमालात्मक लिपियां जन्म लेती हैं। तब से आज तक लिपियों का विशेष विकास नहीं हुआ। प्रख्यात विज्ञान लेखक, इतिहास एवं पुरातत्वविद गुणाकर मुळे ने इस पुस्तक में भारत सहित संसार की प्रमुख पुरालिपियों की जानकारी दी है।

पृष्ठ संख्या : 394 मूल्य : 250 रुपये

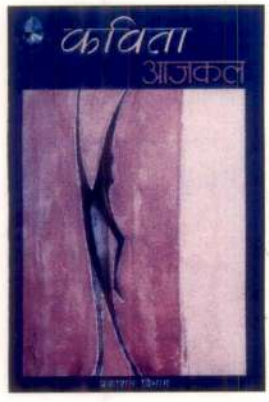


जनकवि नागार्जुन

संकलन

नागार्जुन की कविताएं व रचनाएं मात्र कविता व रचना नहीं हैं बल्कि एक जीवंत इतिहास हैं। कबीर और निराला की परंपरा के उत्तराधिकारी लोकजीवन के साहित्यकार नागार्जुन एक जिंदादिल कवि थे और ठीक वैसे ही थे, जैसा सिर्फ कोई नागार्जुन ही हो सकता है। प्रकाशन विभाग की पत्रिका *आजकल* ने जून 1996 व जनवरी 1999 का अंक नागार्जुन पर केंद्रित किया था। इस पुस्तक के अधिकांश लेख उन्हीं विशेषांकों से लिए गए हैं।

पृष्ठ संख्या : 108 मूल्य : 60 रुपये



कविता आजकल

संकलन

आजकल की हीरक जयंती वर्ष के उपलक्ष्य में प्रकाशित इस कविता संग्रह में विगत दस वर्षों के दौरान *आजकल* में प्रकाशित चुनिंदा रचनाएं सम्मिलित हैं। इसमें नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', धर्मवीर भारती, रामदरश मिश्र और वीरेंद्र शर्मा जैसे महत्वपूर्ण कवियों के अलावा नई पीढ़ी के कुछ चर्चित और युवा कवियों की रचनाएं भी संकलित हैं। प्रस्तुत संग्रह में कविता के सभी रूपों - गीत, ग़ज़ल आदि को प्रतिनिधित्व देने का प्रयास किया गया है।

पृष्ठ संख्या : 102 मूल्य : 30 रुपये

शीघ्र प्रकाश्य : **कहानी आजकल**

आजकल में विगत दस वर्षों के दौरान प्रकाशित महत्वपूर्ण एवं चर्चित कथाकारों की चुनिंदा कहानियों का संग्रह

संपर्क : व्यापार व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग,
सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय,
पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001

Postal Regn No DL/12035/2003-05
Licenced U(DN)49/2003-5 to post without pre-payment at RMS Delhi
दिल्ली डाक
Delhi Postal
आर एन 701 /
RN 701/5



उमाकांत मिश्र, निदेशक, प्रकाशन विभाग द्वारा पटियाला हाउस, नई दिल्ली–110001 से प्रकाशित एवं मुद्रित तथा तारा आर्ट प्रेस,